# काल चक्र

## (जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)

– डॉ० संजीव कुमार गोधा

# काल चक्र

## (जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)


*लेखक :*

**डॉ. संजीव कुमार गोधा**

एम. ए द्वय (जैन विद्या तुलनात्मक धर्म दर्शन, इतिहास),

नेट, एम.फिल (जैन दर्शन), पीएच.डी.

बी–54, जनता कॉलोनी, जयपुर



*प्रकाशक :*

**श्री अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट**

129, जादौननगर बी, स्टेशन रोड, दुर्गापुरा, जयपुर

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

**प्रथम संस्करण** : 13 जून, 2013
(श्रुतपंचमी के अवसर पर)

**द्वितीय संस्करण** : 1 हजार प्रतियाँ
13 अक्टूबर, 2013
(विजयदशमी के अवसर पर)

**लागत मूल्य** : बारह रुपये

**प्राप्ति स्थल**

1. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
   ए-4, बापूनगर, जयपुर।
   फोन नं - 0141-2705581
2. श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट
   129, जादौननगर बी, स्टेशन रोड, दुर्गापुरा, जयपुर।
3. संजीव कुमार गोधा
   बी-54, जनता कॉलोनी, जयपुर।
   9829064980, 9024399607

**टाईपसैटिंग**
आर्जव ग्राफिक्स
बी-54, जनता कॉलोनी,
जयपुर।

**मुद्रक :**
श्री प्रिन्टर्स
मालवीय नगर, जयपुर।

# प्रकाशकीय

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् दिगम्बर जैन समाज के शीर्षस्थ विद्वानों की पुरातन प्रतिष्ठित संस्था है, जिसकी स्थापना प्रातः स्मरणीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी द्वारा वीर शासन जयन्ती के दिन सन् 1944 में की गई थी। इस संस्था का अपना एक गौरवशाली इतिहास रहा है।

विद्वत्परिषद् के प्रख्यात विद्वानों द्वारा देशभर में शिविरों एवं संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है। सिद्धान्तचक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज के ससंघ पावन सान्निध्य में 18 से 22 अप्रैल 1999 तक संस्था का स्वर्णजयन्ती समारोह एवं समयसार वाचना वर्ष आयोजित किया गया, जिसमें वर्षभर संगोष्ठियों एवं वाचनाओं की धूम मची रही। इनमें आचार्य श्री विद्यानन्दजी, आचार्य श्री धर्मभूषणजी, श्रवणबेलगोला के भट्टारक स्वस्तिश्री चारूकीर्तिजी एवं वयोवृद्ध विद्वान पण्डित नाथूलालजी शास्त्री इन्दौर के सान्निध्य में हुई वाचनायें प्रभावपूर्ण रहीं।

विद्वत्परिषद् द्वारा समय-समय पर राष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन, विधान-पूजन प्रशिक्षण शिविर, ध्यान व सामायिक शिविर, विद्वत्सम्मान आदि महत्वपूर्ण कार्य तो किये ही जाते हैं। इनके अतिरिक्त इस संस्था ने सत्साहित्य-प्रकाशन के क्षेत्र में भी अपना कदम बढ़ाया है। संस्था द्वारा अब तक लोकोपयोगी 23 पुस्तकों का प्रकाशन किया जा चुका है।

इसी शृंखला में अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद् से लगभग 18 वर्षों से जुड़े युवा विद्वान डॉ. संजीवकुमार गोधा द्वारा लिखित 'कालचक्र' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। गोधाजी आज देश-विदेश में ख्यातिप्राप्त प्रवचनकार विद्वान के रूप में उभरकर सामने आ रहे हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष के साथ-साथ आप कनाडा एवं अमेरिका के अनेक शहरों में जाकर तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में कालद्रव्य का सर्वांगीण, तर्कसंगत, शोधपरक, प्रस्तुतिकरण करने वाली यह 'कालचक्र' नामक कृति निश्चित ही पाठकों को इस विषय का समग्र ज्ञान करायेगी। आप सभी इसका भरपूर लाभ उठावें, इसी आशा के साथ।

**– अखिल जैन 'बंसल'**

**महामंत्री-श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद्**

# विषय सूची


काल की परिभाषा / स्वरूप 6

काल के भेद 9

(1) व्यवहार और निश्चय काल 9

(2) व्यवहार काल के विविध मापदण्ड 12

(3) संख्यात, असंख्यात और अनन्त काल 14

(4) भूत, वर्तमान और भविष्य काल 15

(5) उत्सर्पिणी – अवसर्पिणी काल 17

– अवसर्पिणी के प्रथम तीन काल (भोगभूमि) 23

– कल्पवृक्षों का स्वरूप 25

– अवसर्पिणी का पहला काल (सुषमा–सुषमा) 29

– अवसर्पिणी का दूसरा काल (सुषमा) 32

– अवसर्पिणी का तीसरा काल (सुषमा–दुषमा) 34

– कुलकर व्यवस्था 37

– अवसर्पिणी के अन्तिम तीन काल (कर्मभूमि) 43

– अवसर्पिणी का चतुर्थ काल (दुषमा–सुषमा) 43

– तरेसठ शलाका पुरुष 44

– अवसर्पिणी का पंचम काल (दुषमा) 49

– कल्की एवं उपकल्की 50

– अवसर्पिणी का छठा काल (अतिदुषमा) 53

– कल्पान्त–काल (प्रलय) 54

– हुण्डावसर्पिणी काल 56

– उत्सर्पिणी के छह काल 58

– उत्सर्पिणी काल में कुलकर 59

– काल अपरिवर्तन वाले क्षेत्र 60

(6) कुछ सहज जिज्ञासायें... 62

– वर्तमान में कौनसा काल – उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी ? 63

– विश्वास नहीं होता, काल्पनिक–सा लगता है 65

– छठे के बाद छठा या पहला काल ? 66

– क्या सब कुछ बदल जाता है ? 67

– कौनसा काल श्रेष्ठ ? 68

### जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में –

# काल चक्र

'काल' बहुत प्रचलित शब्द है। इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। यहाँ हम जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में काल द्रव्य की चर्चा करते हुये षट् काल रूप चक्र का विस्तृत निरूपण करेंगे। यद्यपि नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य, योग आदि भारतीय दर्शनों के अतिरिक्त पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी किसी न किसी रूप में काल को स्वीकार किया है; किन्तु जैसा सूक्ष्म एवं विशद विवेचन जैन दार्शनिकों ने किया है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

जैन दर्शनानुसार काल का क्या स्वरूप है, उसके कितने भेद–प्रभेद हैं ? अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप काल चक्र किस प्रकार बदलता रहता है ? कौनसे क्षेत्रों में कौनसा काल वर्तता है ? विभिन्न कालों में मनुष्यादि की ऊँचाई, आयु आदि की विविधता के साथ–साथ उन कालों की विशिष्ट परिस्थितियाँ, भोग भूमि, कर्म भूमि, कल्पवृक्षों का स्वरूप, कुलकर व्यवस्था, युग प्रवर्तक तीर्थंकर–चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष, धर्म विध्वंस की चेष्टा करने वाले कल्की एवं अर्द्धकल्की, सृष्टि प्रलय का स्वरूप, पुनः सृष्टि सृजन, हुण्डावसर्पिणी काल की विचित्रतायें आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों को यहाँ रोचक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अंत में विविध जिज्ञासाओं का समुचित समाधान खोजते हुये दृष्टि को स्वभाव सन्मुख करने की प्रेरणा दी है; यही उपादेय है।

'काल चक्र' दो शब्दों का समुदाय है। काल का अर्थ है 'समय' और चक्र का अर्थ है 'परिवर्तन' – इस प्रकार समय का परिवर्तन/फेर ही काल चक्र है।

हम यहाँ सर्व प्रथम काल की चर्चा कर रहे हैं; फिर चक्र/परिवर्तन की चर्चा अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल के रूप में आगे विस्तार से करेंगे।

## काल की परिभाषा / स्वरूप –

जैन दर्शनानुसार लोक षट्द्रव्यात्मक है।[1] छह द्रव्यों में काल भी एक द्रव्य है,[2] जो कि स्वतंत्र पदार्थ है। विभिन्न ग्रन्थों में काल का स्वरूप निम्नानुसार बताया है –

(1) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित, अगुरुलघुत्व गुण सहित और वर्तना लक्षण से युक्त काल द्रव्य है।[3]

(2) **जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।**[4] अर्थात् जीवादि द्रव्यों के परिवर्तन का कारण काल द्रव्य है।

(3) **वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य।**[5] अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल के उपकार हैं।

(4) जो लोकाकाश के एक–एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के

1. षड्दर्शनसमुच्चय, 4/49/171/पृ.250
2. 'कालश्च' – तत्त्वार्थसूत्र, 5/39
3. तिलोयपण्णत्ती, 4/281
4. नियमसार, गाथा–33
5. तत्त्वार्थसूत्र, 5/22

समान भिन्न–भिन्न स्थित हैं, ऐसे कालाणु असंख्य द्रव्य हैं।[6]

(5) प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव में सदा ही वर्तते हैं, उनका यह वर्तना किसी बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकता, अतः इनको वर्तानेवाला सहकारी कारणरूप वर्तना लक्षण जिसमें पाया जाता है, उसे काल कहते हैं। काल के आधार से ही समस्त द्रव्य वर्तते हैं।[7]

(6) काल द्रव्य अनादिनिधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है। यह अत्यन्त सूक्ष्म, परमाणु बराबर है तथा असंख्यात होने के कारण सम्पूर्ण लोकाकाश में भरा हुआ है। इसमें अनन्त पदार्थों के परिणमन कराने की सामर्थ्य है, अतः स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थों के परिणमन में सहकारी होता है।[8]

जिसप्रकार छह द्रव्यों में धर्मास्तिकाय जीव–पुद्गलों के गमन में तथा अधर्मास्तिकाय उनकी स्थिति में निमित्त होता है,[9] आकाश द्रव्य सब द्रव्यों को अवगाहना[10] देने का कार्य करता है, उसीप्रकार काल द्रव्य सभी द्रव्यों के वर्तना/परिणमन में निमित्त होता है।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। प्रत्येक प्रदेश पर एक–एक कालाणु स्थित होने से काल द्रव्य भी असंख्यात हैं। प्रत्येक कालाणु एक दूसरे से भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं और एक प्रदेशी हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होने से अस्तिकाय में शामिल नहीं है।

6. द्रव्यसंग्रह, गाथा–22
7. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा–568
8. आदिपुराण, भाग–1, 3/2–3
9. 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।' – तत्त्वार्थसूत्र, 5/17
10. 'आकाशस्यावगाहः।' – वही, 5/18

जिनागम में बहुप्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है; अतः काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय[11] कहलाते हैं।

काल को धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के समान लोकव्यापी एक अखण्ड द्रव्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि इसे अनेक द्रव्य माने बिना जगत के विभिन्न क्षेत्रों में काल भेद संभव नहीं है। आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर समय भेद इसे अनेक द्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। भरत–ऐरावत क्षेत्र में दिन एवं उसी समय विदेह क्षेत्र में रात्रि रूप व्यवहार से भी काल द्रव्य की अनेकता सिद्ध होती है।

सूर्य–चन्द्रादि मनुष्य क्षेत्र में निरन्तर सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा[12] देते रहते हैं, इसी के कारण काल का विभाग[13] अर्थात् दिन–रात की व्यवस्था बनती है। मनुष्य लोक अर्थात् ढाई द्वीप के बाहर सूर्य–चन्द्रादि गमन नहीं करते; अतः बाहर दिन–रात का परिवर्तन भी नहीं होता। वहाँ सदैव एक समान परिस्थिति रहती है। यही कारण है कि आचार्य हरिभद्रसूरि काल द्रव्य का सद्भाव मनुष्य लोक में ही मानते हैं। उनका कहना है **'मनुष्यलोकादबहिः कालद्रव्यं नास्ति'**[14] अर्थात् मनुष्य लोक के बाहर काल द्रव्य नहीं है।

काल को जब आकाश प्रदेशों पर **'रयणाणं रासी इव'**[15]

11. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा–23
12. 'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके।' – तत्त्वार्थसूत्र, 4/13
13. 'तत्कृतः कालविभागः।' – वही, 4/14
14. षड्दर्शनसमुच्चय, 4/49/177/पृ. 253
15. द्रव्यसंग्रह, गाथा–22

अर्थात् बिखरी हुई रत्नराशि के समान देखते हैं तो वह निश्चय काल अर्थात् कालाणु सम्पूर्ण लोकाकाश में मौजूद है; किन्तु जब काल को दिवस–रात्रि के कारण की दृष्टि से देखते हैं तो उसका (व्यवहार काल का) सद्भाव मात्र ढाई द्वीप में कहा जा सकता है। यह सापेक्ष कथन है, वस्तुतः तो व्यवहार काल का सद्भाव भी सम्पूर्ण लोक में है।

**काल के भेद –**

काल एक द्रव्य होने से उत्पाद–व्यय–ध्रुवता से युक्त है। उसमें भी द्रव्य–गुण–पर्यायें पायी जाती हैं। यद्यपि काल में प्रतिक्षण परिणमन होने से उत्पाद–व्यय होते रहते हैं, तथापि वस्तु स्वरूप (द्रव्य) की दृष्टि से वह जैसा का तैसा रहता है, उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह कभी भी कालान्तर रूप या अकालरूप नहीं हो जाता। अतीत, वर्तमान या भविष्य कोई भी अवस्था क्यों न हो – सभी में 'काल, काल, काल...' यह साधारण व्यवहार पाया ही जाता है। अविरल प्रवाहमान उस काल द्रव्य के विविध अपेक्षाओं से अनेक भेद मिलते हैं। जैसे – व्यवहार काल, निश्चयकाल, भूत–वर्तमान–भविष्य काल, उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी काल आदि।

**1. व्यवहार और निश्चय काल –**

काल द्रव्य के मुख्य (निश्चय) और अमुख्य (व्यवहार) – ऐसे दो भेद हैं, इनमें से मुख्य काल के आश्रय से अमुख्य काल की प्रवृत्ति होती है।[16] जो दूसरे द्रव्यों के परिवर्तनरूप है, वह व्यवहार

16. तिलोयपण्णत्ती, 4/282

काल है तथा स्वयं वर्तना लक्षणयुक्त निश्चय काल है।[17] आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि 'परमार्थकालो वर्तनालक्षण:, परिणामादि लक्षणो व्यवहारकाल:'[18] अर्थात् परमार्थ काल वर्तना लक्षण वाला और व्यवहार काल परिणाम आदि लक्षण वाला है।

व्यंजन पर्याय के वर्तमानरूप में ठहरने जितने काल को व्यवहार काल कहते हैं।[19] यह समय, आवलि, उच्छ्वास, नाडी आदि अनेक प्रकार का होता है, इसकी गणना सूर्यादि ज्योतिषचक्र के घूमने से होती है।[20] आचार्य पूज्यपाद भी इसीप्रकार की बात कहते हैं कि – समय और आवली आदि रूप व्यवहार काल विभाग गतिवाले ज्योतिषी देवों के कारण किया गया है।[21] आचार्य अकलंकदेव ने भी व्यवहार काल का कारण ज्योतिषी देवों को ही बताया है।[22]

व्यवहार काल का क्षेत्र बताते हुये आचार्य नेमीचन्द्र लिखते हैं कि – **'माणुसखेत्तम्हि'**[23] अर्थात् यह मनुष्य क्षेत्र में ही होता है। वस्तुतः व्यवहार काल का संबंध सूर्य, चन्द्रादि विमानों के गमन से है। ये सभी विमान मनुष्य लोक में ही गमन करते हैं, अतः व्यवहार काल भी मनुष्य क्षेत्र में ही प्रवर्तता है। आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय[24] में कहते हैं कि – समय, निमिष, काष्ठा, कला,

17. द्रव्यसंग्रह, गाथा–21
18. सर्वार्थसिद्धि, 5/22/569/पृ. 223
19. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा–572
20. आदिपुराण, 3/12
21. सर्वार्थसिद्धि, 4/14/469/पृ. 185
22. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 4/14/पृ.407
23. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा–577
24. पंचास्तिकाय, गाथा–25

घड़ी, दिन–रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष – इनमें पराश्रितपना अर्थात् पर की अपेक्षा होने से इन्हें व्यवहार काल कहा जाता है।

निश्चय काल का स्वरूप बताते हुये आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं – काल द्रव्य पाँच वर्ण व पाँच रस से रहित, दो गन्ध व आठ स्पर्श से रहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षणवाला है।[25] आचार्य अमृतचन्द्र क्रम से होने वाली समयरूप पर्यायों को व्यवहार काल तथा उसके आधारभूत द्रव्य को निश्चय काल कहते हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है –

**'क्रमानुपाती समयाख्यः पर्यायो व्यवहारकालः, तदाधारभूतं द्रव्यं निश्चयकालः।'**[26]

इसीप्रकार का भाव वे आगे भी व्यक्त करते हैं – **'निश्चयकालो नित्यः द्रव्यरूपत्वात्, व्यवहारकालः क्षणिकः पर्याय रूपत्वादिति'**[27] अर्थात् निश्चयकाल द्रव्यरूप होने से नित्य है तथा व्यवहार काल पर्यायरूप होने से क्षणिक है।

**उक्त सम्पूर्ण आगम प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्तना लक्षण युक्त कालाणु निश्चय काल द्रव्य है तथा जो दूसरे द्रव्यों के परिणमन में निमित्त हो वह व्यवहार काल है। तथा जब द्रव्यों के परिणमन में सहयोगी होने को निश्चय काल कहा जाता है, तब घड़ी–घण्टा, दिन–रात आदि को व्यवहार काल कहते हैं।**

---

25. पंचास्तिकाय, गाथा–24
26. वही, गाथा–100 की टीका
27. वही, गाथा–101 की टीका

## 2. व्यवहार काल के विविध मापदण्ड –

व्यवहार काल को प्रदर्शित करने के लिये जैनाचार्यों ने अनेक माप दण्ड निर्धारित किये हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड[28] एवं लोकविभाग[29] में दिये गये विविध घटकों को निम्नानुसार देखा जा सकता है –

| | | |
|---|---|---|
| काल का अविभागी अंश | = | 1 समय |
| असंख्यात समय | = | 1 आवली |
| संख्यात आवली | = | 1 उच्छ्वास |
| 7 उच्छ्वास | = | 1 स्तोक |
| 7 स्तोक | = | 1 लव |
| 38.5 लव (24 मिनिट) | = | 1 नाली (घड़ी / घटी) |
| 2 नाली | = | 1 मुहूर्त |
| 1 मुहूर्त में 1 समय कम | = | भिन्नमुहूर्त / अंतर्मुहूर्त |
| 30 मुहूर्त (24 घण्टा) | = | 1 दिनरात |
| 15 दिन | = | 1 पक्ष |
| 2 पक्ष | = | 1 मास |
| 2 मास | = | 1 ऋतु |
| 3 ऋतु | = | 1 अयन (छः मास) |
| 2 अयन | = | 1 वर्ष |

व्यवहार काल सूचक इसीप्रकार के विविध घटकों की चर्चा किंचित् शब्द भेद करते हुये आचार्य यतिवृषभस्वामी[30] ने तथा

28. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 573 से 576
29. लोकविभाग, 6 / 201–204
30. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 289–292

आचार्य अमृतचन्द्र[31] ने निम्नानुसार की है –

| | | |
|---|---|---|
| असंख्य समय | = | 1 निमिष |
| 8 निमिष | = | 1 काष्ठा |
| 16 काष्ठा | = | 1 कला |
| 32 कला | = | 1 घड़ी |
| 60 घड़ी | = | 1 अहोरात्र |
| 30 अहोरात्र | = | 1 मास |
| 2 मास | = | 1 ऋतु |
| 3 ऋतु | = | 1 अयन (छः मास) |
| 2 अयन | = | 1 वर्ष |

काल का सबसे छोटा अविभागी अंश समय के नाम से जाना जाता है, इसका परिमाण बताते हुये कहा है कि पुद्गल के परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर गमन में जो अविभागी काल लगता है, वह **समय** है।[32] लोक विभाग में एक परमाणु द्वारा दूसरे परमाणु को लाँघने में लगे काल को समय कहा है।[33] जैनाचार्यों ने 150 अंक प्रमाण वर्षों के काल को उत्कृष्ट संख्यात काल कहा है और इसे **अचलात्म**[34] संज्ञा से संबोधित किया है। वर्ष से लेकर अचलात्म तक के कालांशों की चर्चा को आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती[35] में विस्तार से बताया है।

31. नियमसार, गाथा–31 टीका
32. तिलोयपण्णत्ती, 4/288
33. लोकविभाग, 6/201
34. तिलोयपण्णत्ती, 4/312
35. वही, 4/294 से 312 का सार

### 3. संख्यात, असंख्यात और अनन्त काल –

जैन आगमों[36,37] में दो को जघन्य संख्यात तथा अचलात्म को उत्कृष्ट संख्यात कहा है। इन दोनों के बीच की संख्याओं को मध्यम संख्यात कहा गया है। उत्कृष्ट संख्यात काल का 150 अंक प्रमाण उक्त माप निकालने के लिये बुद्धि कल्पित एक लाख योजन विस्तारवाले और एक हजार योजन गहरे – शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका तथा अनवस्था नामक चार कुण्ड स्थापित कर उनमें सरसों के दानों को आधार बनाकर विस्तार से समझाया है। **यह 150 अंक प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली के ज्ञान का विषय है।**

उत्कृष्ट संख्यात में एक जोड़ देने पर जघन्य असंख्यात हो जाता है। यहाँ असंख्यात के भी नौ भेद बताये गये हैं। जघन्य परितासंख्यात, मध्यम परितासंख्यात, उत्कृष्ट परितासंख्यात, जघन्य युक्तासंख्यात, मध्यम युक्तासंख्यात, उत्कृष्ट युक्तासंख्यात, जघन्य असंख्यातासंख्यात, मध्यम असंख्यातासंख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात। यह **उत्कृष्ट असंख्यात अवधि ज्ञान का विषय** है।[38]

उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में एक जोड़ देने पर जघन्य अनन्त होता है। इसके भी नौ भेद बताये गये हैं। जघन्य परितानंत, मध्यम परितानंत, उत्कृष्ट परितानंत, जघन्य युक्तानंत,

---

36. तिलोयपण्णत्ती, 4/313 व टीका का सार
37. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38, पृष्ठ–206
38. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/314 एवं टीका से
    (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/पृ. 206/पं. 30

मध्यम युक्तानंत, उत्कृष्ट युक्तानंत, जघन्य अनंतानंत, मध्यम अनंतानंत और उत्कृष्ट अनंतानंत। **यह अनंत केवलज्ञान का विषय है।**[39] छदमस्थ के ज्ञान का विषय नहीं है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के माध्यम से जहाँ तक की गणना को जाना जा सके, वह संख्यात है। इससे अधिक जहाँ तक की गणना अवधिज्ञान–मनःपर्यय ज्ञान का विषय बने, वह असंख्यात है। इससे अधिक जिसे सिर्फ केवलज्ञान के माध्यम से जाना जा सके, वह अनंत है।

इसप्रकार आत्मा के ज्ञान नामक एक गुण की एक समय की पर्याय में अपरिमित अनंत काल को जानने की सामर्थ्य है। इससे ज्ञान गुण की सामर्थ्य एवं ज्ञान जैसे अनंत गुण जिस आत्मा में हैं – ऐसे आत्मा की सामर्थ्य का अनुमान लगाया जा सकता है। अनंत सामर्थ्यवान होकर भी यह जीव अपनी प्रभुता को न पहिचानने के कारण ही अनंत दुःख भोग रहा है।

### 4. भूत, वर्तमान और भविष्य काल –

व्यवहार काल के भूत, वर्तमान, और भविष्य के रूप में तीन भेद भी किये गये हैं। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं – **'स त्रिधा व्यवतिष्ठते–भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति। तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यः, भूतादिव्यपदेशो गौणः। व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः, कालव्यपदेशो गौणः।'**[40] अर्थात् वह

39. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/315 एवं टीका से
(2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/पृ. 206/पं. 31
40. सर्वार्थसिद्धि, 5/22/569/पृ. 223

काल – भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। निश्चय काल का कथन करने पर काल संज्ञा मुख्य तथा भूतकाल आदि का व्यपदेश (कथन) गौण रहता है तथा व्यवहार काल का कथन करने पर भूतकाल आदिरूप संज्ञा मुख्य है और काल संज्ञा गौण है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी **'अतीतानागतवर्तमान भेदात् त्रिधा वा'**[41] कहकर व्यवहार काल को तीन भेद वाला बताया है। आदिपुराण में कहा है कि संसार का व्यवहार चलाने में समर्थ होने से भूत, भविष्यत और वर्तमान रूप से व्यवहार काल की कल्पना की है।[42]

इन तीनों कालों की परिभाषा बताते हुये आचार्य नेमीचन्द्र[43] कहते हैं कि सिद्ध राशि को संख्यात आवली के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण हो, उतना ही अतीत/**भूतकाल** का प्रमाण है। वस्तुतः हर छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति/सिद्धदशा प्राप्त करते हैं। अतः सिद्ध राशि को छह महीना आठ समय से गुणा करके 608 का भाग देने पर अतीत काल का प्रमाण संख्यात आवलि गुणित सिद्धराशि प्राप्त होता है।

**वर्तमान काल** का प्रमाण एक समय मात्र है। तथा सम्पूर्ण जीव राशि व समस्त पुद्गलद्रव्य राशि से भी अनंतगुणा **भविष्यत काल** का प्रमाण है। यह व्यवहार काल वर्तमान की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी और भूत–भविष्य की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी अर्थात् लम्बे समय तक रहने वाला है।

---

41. नियमसार, गाथा–31 टीका
42. आदिपुराण, 3/11
43. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा – 578–580

### 5. उत्सर्पिणी – अवसर्पिणी काल –

जैन परम्परा के अनुसार कालचक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप में क्रमशः निरन्तर परिवर्तन किया करता है। उत्सर्पिणी काल उत्थान का काल है, इस काल में विकास देखा जाता है तथा अवसर्पिणी काल ह्रास का काल है, इसमें निरन्तर गिरावट /कमी देखी जाती है। इन दोनों का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण निम्नानुसार है, किंचित् शब्द भेद से लगभग सभी में एकसी बात कही गई है –

(1) **णर–तिरियाणं आऊ, उच्छेह–विभूदि–पहुदियं सव्वं।**
**अवसप्पिणिए हायदि, उस्सप्पिणियासु वड्ढेदि।।**[44]

अवसर्पिणी काल में मनुष्य एवं तिर्यंचों की आयु, शरीर की ऊँचाई एवं विभूति आदि सब ही घटते रहते हैं तथा उत्सर्पिणी काल में बढ़ते रहते हैं।

(2) **भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासाविति....अनुभवायुः प्रमाणादिकृतौ।**[45] जिसमें भरत और ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों के अनुभव, आयु, प्रमाण आदि की वृद्धि होती है, वह उत्सर्पिणी काल है और जिसमें इनका ह्रास होता है, वह अवसर्पिणी काल है।

(3) **अनुभवादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पिणी।**
**तद्विपरीतोत्सर्पिणी।**[46]

जिसमें अनुभव, आयु, शरीरादि की उत्तरोत्तर उन्नति हो, वह

44. तिलोयपण्णत्ती, 4/318
45. सर्वार्थसिद्धि, 3/27/418/पृ. 166
46. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/4–5/पृ.191

उत्सर्पिणी और जिसमें अवनति हो, वह अवसर्पिणी है।

**(4) उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ।**
**उत्सर्पादवसंपच्चि बलायुर्देहवर्ष्मणाम्।।**[47]

जिसमें मनुष्यों के बल, आयु और शरीर का प्रमाण क्रम–क्रम से बढ़ता जाये, उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम–क्रम से घटते जायें, उसे अवसर्पिणी कहते हैं।

(5) जब बाहुबल, वैभव, मनुष्य शरीर, धर्म, ज्ञान, गाम्भीर्य और धैर्य बढ़ते हैं तो उत्सर्पिणी काल होता है, और जब ये घटते हैं, तब अवसर्पिणी काल होता है।[48]

(6) पंच भरत एवं पंच ऐरावत क्षेत्रों में स्थित जीवों के शरीर की ऊँचाई, आयु और बल की क्रमशः अवसर्पिणी में हानि और उत्सर्पिणी काल में वृद्धि होती है।[49]

**अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी कालों का प्रमाण –**

दोनों ही काल छह–छह प्रकार के हैं। **अवसर्पिणी काल** – सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुषमा (दुषमादुषमा) के भेद से छह प्रकार का है तथा **उत्सर्पिणी काल** अतिदुषमा से प्रारंभ करके क्रमशः बढ़ता हुआ **सुषमासुषमा** तक जाता है। दोनों ही कालों का प्रमाण दस–दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। दोनों को मिलाकर एक **कल्पकाल**

---

47. आदिपुराण, 3/14
48. आचार्य पुष्पदन्त : महापुराण, भाग–1, संधि–2/8/पृ.31
49. त्रिलोकसार, गाथा 779

होता है[50]। कोड़ाकोड़ी का अर्थ करोड़ गुना करोड़ होता है। वर्तमान में कुछ विचारक गणनाओं में सामंजस्य बैठाने के लिये कोड़ी शब्द का अर्थ 20 अथवा 10 भी बताने लगे हैं। लौकिक में पतंग आदि कुछ वस्तुयें कोड़ी की गणनानुसार बिकती है; परन्तु अलौकिक गणनाओं में यह अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता।

**सागरोपम** – यह काल का एक नाप है, जिसका अर्थ मानव को ज्ञात समस्त संख्याओं से अधिक काल वाले काल खण्ड का उपमा द्वारा प्रदर्शित परिमाण होता है। दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।[51] पल्योपम की चर्चा तिलोयपण्णत्ती[52] सर्वार्थसिद्धि[53] राजवार्तिक[54] त्रिलोकसार[55] कार्तिकेयानुप्रेक्षा[56] आदि अनेक आगम ग्रन्थों में विस्तार से की गई है। वहाँ इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहा है कि – एक प्रमाण योजन विस्तार वाले और इतने ही गहरे गड्ढे को उत्तम भोगभूमि में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुये मेढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खण्डों से भरकर सौ–सौ वर्षों में एक–एक बाल निकालें। जब वह गड्ढा पूरा खाली हो जाये तब एक व्यवहार पल्य (पल्योपम) होता है। असंख्य व्यवहार पल्य का एक उद्धारपल्य तथा असंख्य

50. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/319 व 320 (पूर्वार्द्ध)
    (2) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/पृ. 388
    (3) आदिपुराण, 3/15/पृ. 47
51. तिलोयपण्णत्ती, 1/130
52. तिलोयपण्णत्ती, 1/119–130 का सार
53. सर्वार्थसिद्धि, 3/38/439/पृ.174 का सार
54. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/38/7/पृ. 208 का सार
55. त्रिलोकसार, गाथा–102
56. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, भावार्थ पृ.–56–57

उद्धारपल्य का एक अद्धापल्य होता है। दस कोड़ाकोडी अद्धापल्योपम का एक **सागरोपम** होता है। ऐसे बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कल्पकाल कहा गया है।

**अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के विभाग** – तिलोयपण्णत्ती[58], सर्वार्थसिद्धि[59], राजवार्तिक[60], त्रिलोकसार[61] एवं लोकविभाग[62] में अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी के दस–दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण काल को उनके छह भेदों में विभाजित किया है। अवसर्पिणी के छह विभाग/काल निम्नानुसार है –

(1) सुषमासुषमा – 4 कोड़ाकोड़ी सागर
(2) सुषमा – 3 कोड़ाकोड़ी सागर
(3) सुषमादुषमा – 2 कोड़ाकोड़ी सागर
(4) दुषमासुषमा – 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42,000 वर्ष कम
(5) दुषमा – 21,000 वर्ष
(6) अतिदुषमा – 21,000 वर्ष

उत्सर्पिणी के छह विभाग[63] इसके विपरीत क्रम में है, जो कि निम्नानुसार है –

(1) अतिदुषमा – 21,000 वर्ष

58. तिलोयपण्णत्ती, 4/320–323
59. सर्वार्थसिद्धि, 3/27/418/पृ. 166–167
60. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 3/27/पृ. 388
61. त्रिलोकसार, 781
62. लोकविभाग, 5/5–7
63. तिलोयपण्णत्ती, 4/1576–77

(2) दुषमा — 21,000 वर्ष.

(3) दुषमासुषमा — 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42,000 वर्ष कम

(4) सुषमादुषमा — 2 कोड़ाकोड़ी सागर

(5) सुषमा — 3 कोड़ाकोड़ी सागर

(6) सुषमासुषमा — 4 कोड़ाकोड़ी सागर

उक्त नामों में काल अथवा समय सूचक **'समा'** शब्द में **'सु'** एवं **'दुर्'** उपसर्गों का प्रयोग उनके शुभ और अशुभ का सूचक है। इन उपसर्गों से छहों कालों के नाम की सार्थकता बताते हुये **आचार्य जिनसेन** लिखते हैं –

**समा कालविभागः स्यात् सुदुसावर्हगर्हयोः'।**
**सुषमा दुःषमेत्येवमतोऽन्वर्थत्वमेतयोः ।।**[64]

**समा** काल के विभाग को कहते हैं। तथा **'सु'** और **'दुर्'** उपसर्ग क्रम से अच्छे और बुरे अर्थ में आते हैं। **'सु'** और **'दुर्'** उपसर्गों को पृथक्–पृथक् समा के साथ जोड़ देने तथा व्याकरण के नियमानुसार **'स'** को **'ष'** कर देने से **सुषमा** और **दुषमा** शब्दों की सिद्धि होती है, जिनका अर्थ क्रम से अच्छा काल और बुरा काल होता है। इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छहों भेद सार्थक नाम वाले हैं।

ये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद कालचक्र के परिभ्रमण से अपने छहों कालों के साथ–साथ **कृष्ण पक्ष** और **शुक्ल पक्ष** की तरह घूमते रहते हैं[65] अर्थात् जिस तरह कृष्ण पक्ष

64. आदिपुराण, 3/19 65. वही, 3/21

के बाद शुक्ल पक्ष और शुक्ल पक्ष के बाद कृष्ण पक्ष आता है, उसीतरह अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी काल आता है। कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष के समान कालचक्र परिवर्तन की बात रविषेणाचार्य ने **पद्म पुराण**[66] में भी की है। तिलोयपण्णत्ती में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में रँहट–घटिका न्याय[67] की तरह अनन्तानन्त[68] उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी होने का उल्लेख है। ये क्रम सदा चलता ही रहता है।

इस कालचक्र के क्रम को चित्र द्वारा निम्नानुसार देखा जा सकता है –

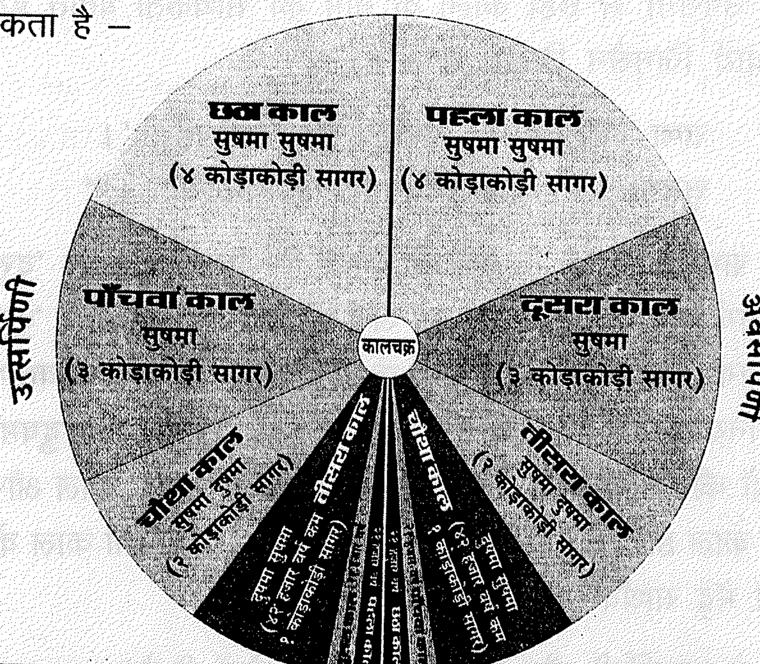


66. पद्मपुराण, प्रथम भाग, 3/73

67. **रँहट घटिका न्याय**– जैसे रँहट की घड़ियाँ चक्रवत् घूमती हुई बार–बार ऊपर एवं नीचे आती–जाती हैं, उसीप्रकार अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी – इन कालों का परिवर्तन होता ही रहता है।

68. तिलोयपण्णत्ती, 4/1636

## अवसर्पिणी के प्रथम तीन काल (भोगभूमि) –

भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी के प्रथम तीन कालों में भोग भूमि रहती है। इन कालों में भोगों की प्रधानता होती है, इसीलिये जहाँ ये काल वर्तते हैं, उन्हें भोगभूमि कहते हैं। यहाँ सभी बाह्य सामग्री विविध प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है। यहाँ सभी **युगलिया**[70] जन्म लेते हैं, और वे जीवन पर्यंत पति–पत्नी के समान रहते हैं। इन मनुष्यों की आयु के नौ मास शेष रहने पर ही स्त्री के गर्भ धारण होता है, शेष काल में किसी के भी गर्भ नहीं रहता, फिर नौ मास पूर्ण होने पर युगल (नर–नारी) भूशय्या पर सोकर गर्भ से युगल (पुत्र–पुत्री) के निकलने पर तत्काल ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं।[71] अंतिम समय में पुरुष को छींक और स्त्री को जँभाई आने से मृत्यु होती है।[72] अथवा आदिपुराण[73] एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[74] के अनुसार आयु के अन्त में पुरुष को जम्हाई और स्त्री को छींक आने से मृत्यु होती है।

भोगभूमि में नर–नारि दोनों के शरीर शरद ऋतु के मेघों समान स्वयं ही आमूल विलीन हो जाते हैं।[75] अथवा तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक[76] के अनुसार उनके शरीर विद्युत के समान विघट जाते हैं। यहाँ उत्पन्न हुये जीवों का कदलीघात मरण अथवा

70. **युगलिया** = बालक–बालिका युगल रूप में
71. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 379–380
72. वही, 4 / 381
73. आदिपुराण, 3 / 42
74. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग–5, 3 / 31 / पृ. 351 / पं.4
75. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 381
76. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भाग–5, 3 / 31 / पृ. 351 / पं.5

आयु का अपवर्तन नहीं होता।[77] इनका शरीर सप्त धातुमय होते हुये भी छेदा–भेदा नहीं जा सकता। अशुचिता से रहित होने के कारण उनके शरीर से मूत्र तथा विष्टा का आस्रव नहीं होता[78] आदिपुराण के अनुसार उन लोगों को पसीना भी नहीं आता।[79] यहाँ शरीर में रोग भी नहीं होते, कोई किसी का शत्रु नहीं होता, सिंह और हाथी भी साथ रहते हैं, लोगों का लावण्य रंग और विलास से परिपूर्ण वय और यौवन भी नष्ट नहीं होते।[80]

देखो ! पुण्योदय का यह ठाठ देखकर हमारा मन ललचाता है; किन्तु भाई ! हमने भी आत्मज्ञान के अभाव में इस पंच परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करते हुये भोगभूमि में अनन्त बार जन्म लिया है। उत्तम, मध्यम और जघन्य सभी भोगभूमियों में हम अनन्त बार जन्म–मरण कर चुके हैं।

अनेक बार भावलिंगी मुनिराजों को आहार दान देने के बाद भोगभूमि में जन्म लेकर भी यह जीव स्वयं सम्यक्त्व से शून्य रहा। वहाँ अनंत बार तीन पल्य की आयु तक बाह्य अनुकूलतामय जीवन भी पारमार्थिक सुख के बिना दुख से ही बीता।

भोगभूमियों के सभी जीव स्वभाव से ही कोमल परिणामी होते हैं, इसलिये मरकर स्वर्ग में ही जाते हैं, इनकी स्वर्ग के सिवाय और कोई गति नहीं होती।[81] यहाँ के मिथ्यादृष्टि

77. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/361 (2) तत्त्वार्थसूत्र, 2/53
(3) सर्वार्थसिद्धि, 2/53/365/पृ. 148
78. तिलोयपण्णत्ती, 4/387
79. आदिपुराण, 3/31
80. आचार्य पुष्पदन्त कृत महापुराण, भाग–1, सन्धि–2/8, पृष्ठ–31
81. आदिपुराण, 3/43

मनुष्य–तिर्यंच मरकर भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में तथा सम्यग्दृष्टि मनुष्य–तिर्यंच मरकर सौधर्म युगल में उत्पन्न होते हैं।[82] इससे ऊपर नहीं जाते।

इन कालखण्डों में जन्म लेने वाले मनुष्यादि प्राणियों का जीवन भोग प्रधान रहता है। इस समय प्रकृति इतनी सम्पन्न होती है कि उसके निवासियों को जीवन यापन के लिये किसी भी प्रकार के कृषि, मसि, व्यापार, उद्योग, शिल्प अथवा असि आदि कर्म की आवश्यकता नहीं होती। प्रकृति से सहजरूप से प्राप्त भोग्य सामग्री का उपभोग करना ही उनका कार्य रहता है। सभी सामग्री उनको संकल्प मात्र से **कल्पवृक्षों** द्वारा प्राप्त हो जाती है।

**कल्पवृक्षों का स्वरूप –**

भोगभूमि में उत्पन्न हुये जीवों को मनवांछित पदार्थ कल्पवृक्ष से प्राप्त हो जाते हैं। पुण्यात्मा पुरुषों को मनचाहे भोग देने में समर्थ होने से ही ज्ञानियों ने इसकी कल्पवृक्ष संज्ञा सार्थक कही है।[83] इन भोगभूमियों में जन्मे युगल कल्पवृक्षों द्वारा दी गई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया द्वारा बहुत प्रकार के शरीर बना कर अनेक भोग भोगते हैं।[84] इनके भोगों की बाहुल्यता बताते हुये आचार्य यतिवृषभदेव लिखते हैं –

**'जुगलाणि अणंतगुणं, भोगं चक्कहर भोग लाहादो।'**[85]

---

82. तिलोयपण्णत्ती, 4/382
83. आदिपुराण, 3/38
84. तिलोयपण्णत्ती, 4/362
85. वही, 4/361 (पूर्वार्द्ध)

अर्थात् ये युगलिया जीव चक्रवर्ती के भोग–लाभ की अपेक्षा अनंत गुणे भोग भोगते हैं। चक्रवर्ती तो कर्म भूमि में होते हैं, उन्हें विशेष कर्म करना पडता है, जब कि भोगभूमिया जीवों को सर्व सुविधायें कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं, उन्हें मनवांछित समस्त भोग सामग्री प्राप्त होती है; फिर भी आचार्य नेमीचन्द्र लिखते हैं कि –

**'सुलहेसु वि णो तित्ती तेसिं पंचक्खविसएसु'**[86]

अर्थात् पंचेन्द्रिय भोगों की अतिसुलभता भी उन्हें तृप्ति प्रदान नहीं करती। कहने का तात्पर्य यह है कि भोगों की बाहुल्यता इस जीव को सुखी करने में समर्थ नहीं है।

भोग सामग्री इकट्ठी करने के पहले हमें भी यह विचार करना चाहिये कि भोगों में सुख है भी या नहीं ? "इनमें सुख है ही नहीं" – यदि ऐसी प्रतीति हो जाये तो भोगों की वासना मिटे बिना न रहे। वर्तमान में हम कितनी भी भोग सामग्री एकत्रित कर लें, वह भोगभूमि की तुलना में अत्यल्प ही होगी; अतः विचार करना कि भोगभूमि में इतनी अनुकूल सामग्री में भी तृप्ति नहीं हुई तो अब इस अल्प सामग्री से तृप्ति कैसे होगी ? अतः भोग सामग्री से दृष्टि हटाकर अपने स्वभाव को देखने का प्रयत्न करना चाहिये।

जीवन पर्यंत भोगी जाने वाली ये समस्त भोग सामग्री उनको दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है। जैन आगमों में इनकी **10 जातियाँ** बताई गई है, उनके नाम निम्नानुसार हैं –

1. पानांग 2. तूर्यांग 3. भूषणांग 4. वस्त्रांग 5. भोजनांग

---

86. त्रिलोकसार, गाथा–790 (उत्तरार्द्ध)

6. आलयांग 7. दीपांग 8. भाजनांग 9. मालांग और 10. तेजांग।[87] इनके नाम किंचित् शब्द भेद से आदिपुराण[88] में निम्नानुसार मिलते हैं – 1. मद्यांग 2. तूर्यांग 3. विभूषांग 4. स्रगंग 5. ज्योतिरंग 6. दीपांग 7. गृहांग 8. भोजनांग 9 पात्रांग और 10. वस्त्रांग।

ये सभी वृक्ष अपने–अपने नाम के अनुसार ही फल प्रदान करने वाले हैं। तिलोयपण्णत्ती[89] लोकविभाग[90] आदि ग्रन्थों में इनका स्वरूप इसप्रकार बताया गया है –

**1. पानांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष भोगभूमिया जीवों को मधुर, सुस्वाद, छह रसों से युक्त, प्रशस्त, अतिशीतल तथा तुष्टि और पुष्टिकारक बत्तीस प्रकार के पेय दिया करते हैं।

**2. तूर्यांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष उत्तम वीणा, पटु पटह, मृदंग, झालर, शंख, दुन्दुभि, भम्भा, भेरी और काहल इत्यादि भिन्न–भिन्न प्रकार के बाजे देते हैं।

**3. भूषणांग/रत्नांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष पुरुषों के 16 प्रकार के और स्त्रियों के 14 प्रकार के कंकण, कटिसूत्र, हार, केयूर, मंजीर, कटक, कुण्डल, किरीट और मुकुट इत्यादि विविध उत्तम आभूषण प्रदान करते हैं।

**4. वस्त्रांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष नित्य चीनपट (सूती

87. तिलोयपण्णत्ती, 4/346
88. आदिपुराण, 3/39–40
89. तिलोयपण्णत्ती, 4/347–357
90. लोकविभाग, 5/14–23

वस्त्र) एवं उत्तम क्षौम (रेशमी) वस्त्र तथा मन और नेत्रों को आनन्दित करने वाले नाना प्रकार के अन्य वस्त्र देते हैं।

**5. भोजनांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष सोलह प्रकार का आहार, सोलह प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार के सूप (दाल आदि) चौवन के दुगुने (108) प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ तिरेसठ प्रकार के स्वाद्य पदार्थ एवं तिरेसठ प्रकार के रस भेद पृथक्–पृथक् दिया करते हैं।

**6. आलयांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष स्वस्तिक एवं नन्द्यावर्त आदि सोलह प्रकार के रत्नमय और सुवर्णमय रमणीय दिव्य भवन दिया करते हैं।

**7. दीपांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष प्रासादों में शाखा, प्रवाल, फल, फूल और अंकुरादि के द्वारा जलते हुये दीपकों के सदृश प्रकाश देते हैं।

**8. भाजनांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष स्वर्ण एवं बहुत प्रकार के रत्नों से निर्मित थाल, झारी, कलश, गागर, चामर और आसनादिक प्रदान करते हैं।

**9. मालांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष बल्ली, तरु, गुच्छों और लताओं से उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पों की विविध मालायें देते हैं।

**10. तेजांग/ज्योतिरांग** – इस जाति के कल्पवृक्ष मध्य दिन के करोड़ों सूर्यों की किरणों के सदृश होते हुए नक्षत्र, चन्द्र और सूर्यादि की कान्ति का संहरण करते हैं।

ये कल्पवृक्ष वनस्पति रूप नहीं होते और इनका स्वरूप किसी व्यन्तर के समान भी नहीं होता। ये पृथ्वीरूप होते हुये भी जीवों को उनके पुण्य का फल प्रदान करने में समर्थ होते हैं। इनके माध्यम से भोगभूमि के जीव निरन्तर इन्द्रिय जनित उत्तम सुखों को भोगते हैं और अत्यन्त संतोषपूर्वक अपना जीवन यापन करते हैं; किन्तु तृप्ति नहीं होते।

भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय काल में जीवों को प्राप्त सभी अनुकूलतायें इन कल्पवृक्षों के द्वारा ही प्राप्त होती है। सामान्यरूप में तीनों भोग भूमियों में भोग सामग्री की बाहुल्यता है, भोगों की ही प्रधानता रहती है, फिर भी तीनों के स्वरूप एवं परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन को हम पृथक्–पृथक् देखते हैं –

**अवसर्पिणी का पहला काल (सुषमा–सुषमा) –**

यह काल उत्तम भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ उत्तरकुरु एवं देवकुरु नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती है। ध्यान रहे, **षट् कालों का परिवर्तन भरत एवं ऐरावत क्षेत्र के भी सभी खण्डों में नहीं होता, यह परिवर्तन इन क्षेत्रों के मात्र आर्यखण्डों में ही होता है।** म्लेच्छ खण्डों की व्यवस्था को आगे "काल अपरिवर्तन वाले क्षेत्र" शीर्षक में बताया गया है।

यह सुषमा–सुषमा नामक पहला काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का कहा गया है। इस काल में भूमि रज, धूम, दाह और हिम से रहित साफ–सुथरी, ओलावृष्टि तथा बिच्छू आदि कीड़ों के उपसर्ग

से रहित, निर्मल दर्पण के समान, निन्द्यपदार्थों से रहित दिव्य बालुकामय होती है, जो तन–मन और नेत्रों को सुख उत्पन्न करती है।[91] चारों ओर पंच वर्ण युक्त, मृदुल एवं सुगन्ध से परिपूर्ण सुन्दर छोटे–छोटे घास के मैदान होते हैं। झील, तालाब, वापिका तथा नदियाँ स्वच्छ शीतल जल से परिपूर्ण तथा मकरादि जलचर जीवों से रहित होती हैं और उन्हीं जलाशयों के किनारे रत्नों की सीढ़ियों से युक्त शैय्या एवं आसनों के समूह से परिपूर्ण भोगभूमियों के प्राकृत्रिक भवन, प्रासाद आदि आवास–स्थल बने होते हैं।[92]

इस काल में शंख, चींटी, खटमल, गोमक्षिका, डाँस, मच्छर और कृमि आदि विकलेन्द्रिय जीव नियम से नहीं होते। यहाँ असंज्ञी भी नहीं होते, स्वामी और भृत्य का भेद भी नहीं होता, कलह एवं भीषण युद्ध आदि तथा ईर्ष्या और रोग आदि भी नहीं होते। यहाँ अन्धकार नहीं होने से दिन–रात का भेद नहीं है। गर्मी और सर्दी की वेदना भी नहीं है। निन्दा, परस्त्री रमण और परधन हरण आदि दुष्कृत्य भी यहाँ नहीं होते।[93]

इस काल में उत्पन्न हुये युगल चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं।[94] इनके शरीर की ऊँचाई 6000 धनुष (तीन कोस) एवं आयु तीन पल्य प्रमाण होती है। पुरुष एवं स्त्री दोनों के पृष्ठ भाग में दो सौ छप्पन हड्डियाँ[95] होती है। यहाँ जन्मे पुरुषों

91. तिलोयपण्णत्ती 4/324–325
92. वही, 4/326, 328–329
93. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/335–337 (2) लोकविभाग 5/29–30
94. आदिपुराण, 3/30
95. लोकविभाग, 5/11

के लिये लोकविभाग में **'नवसहस्त्रेभविक्रमा'**[96] शब्द का प्रयोग करके नौ हजार हाथियों के सदृश बल की बात कही है।

ये किंचित् लाल हाथ–पैर वाले, नव चम्पक के फूलों की सुगन्ध से व्याप्त, मार्दव और आर्जव गुणों से संयुक्त, मन्दकषायी, सुशील होते हैं। इनका शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त और समचतुरस्र संस्थान वाला होता है। ये उदित होते हुये सूर्य सदृश तेजस्वी, कवलाहार करते हुये भी मल–मूत्र से रहित होते हैं। नर–नारी के अतिरिक्त इनका और कोई परिवार नहीं होता।[97]

उत्तम मुकुट को धारण करने वाले यहाँ के पुरुष इन्द्र से भी अधिक सुन्दराकार होते हैं और मणिमय कुण्डलों से विभूषित कपोलों वाली स्त्रियाँ अप्सराओं के सदृश अत्यन्त सुन्दर होती हैं।[98]

ऐसे उत्तम अनुकूलताओं वाले काल में भी हम अनन्त बार जन्म–मरण कर चुके हैं; किन्तु आत्मभान बिना अशान्त ही रहे।

इस काल में आयु पूर्ण होने से 9 माह पूर्व ही स्त्री को गर्भ धारण होता है। तथा युगल पुत्र–पुत्री को जन्म देकर स्त्री–पुरुष दोनों का मरण हो जाता है। नवजात बालक–बालिका के शैय्या पर सोते हुये अपना अंगूठा चूसने में तीन दिन व्यतीत हो जाते हैं, पश्चात् तीन दिन में वे बैठना सीख जाते हैं, फिर तीन दिन तक अस्थिर गमन और अगले तीन दिनों में दौड़ने लगते हैं। फिर क्रमशः कलागुणों की प्राप्ति, तरुण अवस्था और सम्यक्त्व प्राप्ति

96. लोकविभाग, 5/26
97. तिलोयपण्णत्ती, 4/338–344
98. वही, 4/363

की योग्यता में तीन–तीन दिन व्यतीत होते हैं।[99] इसप्रकार उत्तम भोगभूमि में जन्मे मनुष्य मात्र 21 दिनों में यौवन से परिपूर्ण[100] होकर सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के कारणों की चर्चा करते हुये आचार्य यतिवृषभ[101] ने तीन कारण बताये हैं – (1) जाति स्मरण ज्ञान (2) देवों द्वारा प्रतिबोध (3) चारणऋद्धि धारी मुनिराज का सदुपदेश।

ये सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिये उनके श्रावकोचित व्रत संयम नहीं होते।[102]

जैसे–जैसे सुषमा–सुषमा नामक प्रथम काल व्यतीत होता जाता है, वैसे–वैसे मनुष्य, तिर्यंचों का शरीर, आयु, बल, ऋद्धि आदि भी कम होते रहते हैं। इसप्रकार चार कोड़ाकोड़ी सागर में यह काल पूर्ण हो जाता है। हमने अतीत में अनंत बार इस प्रकार का काल सुख से दूर रहकर ही बिताया है।

**अवसर्पिणी का दूसरा काल (सुषमा) –**

यह काल मध्यम भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ हरि क्षेत्र[103] एवं रम्यक् क्षेत्र नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती हैं।

---

99. तिलोयपण्णत्ती, 4/383–384
100. 'दिवसैरेकविंशत्या पूर्यन्ते यौवनेन च।'
— लोकविभाग, 5/25 (पूर्वार्द्ध)
101. तिलोयपण्णत्ती, 4/385
102. 'तेसुं सावय वद संजमो णत्थि' – वही, 4/390
103. 'शेषो विधिस्तु निश्शेषो हरिवर्षसमो मत:' — आदिपुराण 3/50

तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण सुषमा नामक इस दूसरे काल के प्रारंभ में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई 4000 धनुष (दो कोस), आयु दो पल्य और शरीर की प्रभा पूर्णचन्द्र सदृश होती है। इनके पृष्ठभाग में एक सौ अट्ठाईस हड्डियाँ होती हैं। स्त्रियाँ अप्सराओं सदृश और पुरुष देवों सदृश होते हैं। इस काल में मनुष्य समचतुरस्र संस्थान ये युक्त होते हुए दो दिन बाद तीसरे दिन बहेड़ा फल बराबर अमृतमय आहार करते हैं।[104]

जन्म के उपरान्त युवा होने तक का जो क्रम उत्तम भोगभूमि में 3–3 दिन के अन्तराल से सात चरणों में बताया गया था, वही क्रम यहाँ मध्यम भोगभूमि (सुषमा नामक दूसरे काल) में 5–5 दिन के विकास क्रम में होता है। अर्थात् बालकों के शैय्या पर सोते हुए अपना अंगूठा चूसने, बैठने, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता – इनमें प्रत्येक अवस्था में पाँच–पाँच दिन लगते हैं।[105] इस प्रकार यहाँ के जीव जन्म के पश्चात् मात्र **35 दिन** में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के योग्य हो जाते हैं।

भोगभूमि संबंधी शेष वर्णन उत्तम भोगभूमि के समान ही है। इस काल के प्रारंभ से अंत तक की परिस्थितियों में भी अवसर्पिणी काल होने से बल, आयु, शरीर आदि का ह्रास देखा जाता है। इस प्रकार तीन कोड़ाकोड़ी सागर व्यतीत होने पर यह काल समाप्त हो जाता है।

---

104. तिलोयपण्णत्ती, 4/400–402

105. वही, 4/403–404

### अवसर्पिणी का तीसरा काल (सुषमा–दुषमा) –

यह काल जघन्य भोगभूमि का काल कहलाता है। इस काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों की परिस्थितियाँ हैमवत क्षेत्र एवं हैरण्यवत क्षेत्र नामक शाश्वत भोगभूमियों के समान होती है। यहाँ भी सम्पूर्ण कार्य कल्पवृक्षों से ही सम्पन्न होते हैं।

तिलोयपण्णत्ती[106] एवं आदिपुराण[107] में इस काल का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा है कि सुषमा–दुषमा नामक यह काल दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की **ऊँचाई** दो हजार धनुष (एक कोस), **आयु** एक पल्य और वर्ण प्रियंगु फल सदृश होता है। इस काल में स्त्री–पुरुषों के पृष्ठ भाग में चौंसठ **हड्डियाँ** होती हैं। यहाँ के मनुष्य एक दिन के अन्तराल से आँवले बराबर अमृतमय आहार का ग्रहण करते हैं।

इस काल में जन्मे युगल का शैय्या पर अंगूठा चूसने में 7 दिन का काल व्यतीत हो जाता है। शेष परिस्थितियाँ – बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कला गुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता – इन सब अवस्थाओं में भी क्रमशः सात–सात दिन लगते हैं।[108] इस प्रकार इस काल में उत्पन्न हुये जीवों में मात्र **49 दिन** में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता हो जाती है।

यहाँ सभी जीवों को अपने पुण्य प्रमाण कल्पवृक्षों से अनुकूलताओं

106. तिलोयपण्णत्ती, 4/407–410

107. आदिपुराण, 3/53–54

108. तिलोयपण्णत्ती, 4/411–412

की प्राप्ति होने के कारण कोई चोर नहीं होता। यहाँ किसी की किसी से दुश्मनी नहीं होती। यहाँ शीत, आताप, प्रचण्ड वायु एवं वर्षा नहीं होती, इसलिये प्राकृतिक वातावरण मनोरम रहता है।

**अवसर्पिणी के प्रारंभिक 3 काल (भोगभूमि) एक नजर में–**

| विषय | सुषमा–सुषमा | सुषमा | सुषमा–दुषमा |
|---|---|---|---|
| भूमि रचना | उत्तम भोगभूमि | मध्यम भोगभूमि | जघन्य भोगभूमि |
| काल प्रमाण | 4 को0को0सागर | 3 कोड़ाकोड़ी | 2 कोड़ाकोड़ी |
| उत्कृष्ट आयु | 3 पल्योपम | 2 पल्योपम | 1 पल्योपम |
| जघन्य आयु | 2 पल्योपम | 1 पल्योपम | 1कोटिपूर्व+1समय |
| उत्कृष्ट ऊँचाई | 3 कोस | 2 कोस | 1 कोस |
| जघन्य ऊँचाई | 2 कोस | 1 कोस | 500 धनुष |
| पृष्ठ हड्डियाँ | 256 | 128 | 64 |
| आहार प्रमाण | बेर बराबर | बहेड़ा बराबर | आँवला प्रमाण |
| आहार अंतराल | 3 दिन बाद | 2 दिन बाद | 1 दिन बाद |
| शरीर का रंग | सूर्यप्रभा सदृश | पूर्ण चन्द्रप्रभा | प्रियंगु फल सदृश |
| सम्यक्तव पात्रता | 21 दिन बाद | 35 दिन बाद | 49 दिन बाद |

भोगभूमि के तीनों कालों में जिसप्रकार मनुष्यों के युगल कल्पवृक्ष सम्बन्धी आहारों से सन्तुष्ट होकर प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं, उसीप्रकार सन्तुष्ट चित्त के धारक **तिर्यंचों के जोड़े** भी प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं। उस समय कहीं सिंहों के युगल, कहीं हाथियों के युगल, कहीं ऊँटों के युगल, कहीं शूकरों के युगल

और कहीं मद से धीमी चाल चलने वाले व्याघ्रों के युगल क्रीड़ा करते हैं। कहीं मनुष्यों के बराबर आयु को धारण करने वाले गाय, घोड़े और भैंसों के जोड़े अपनी इच्छानुसार अत्यधिक क्रीड़ा करते हैं।[109] वहाँ रहने वाले व्याघ्रादि भूमिचर और काक आदि नभचर तिर्यंच मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों के मधुर फल भोगते हैं। मनुष्यों के समान तिर्यंचों के भी अपनी–अपनी योग्यतानुसार फल, कन्द, तृण और अंकुरादि के भोग होते हैं।[110]

इन कालों में पुरुष स्त्री को **आर्या** कहकर और स्त्री पुरुष को **आर्य** कहकर पुकारती है। आर्या और आर्य भोगभूमिज स्त्री–पुरुषों के साधारण नाम हैं। उस समय सबकी एक ही उत्तम जाति होती है। वहाँ ब्राह्मण आदि चार वर्ण नहीं होते और न ही असि–मसि आदि षट्कर्म होते हैं। वहाँ न सेवक–स्वामी का सम्बन्ध होता है और न वेषधारी साधु ही। वहाँ के प्राणी सब विषयों में मध्यस्थ रहते हैं, वहाँ न मित्र होते हैं और न शत्रु। वे सभी स्वभाव से ही अल्पकषायी होते हैं।[111]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भोगभूमि का काल उत्तम काल है, जहाँ प्राणियों को सर्व प्रकार की बाह्य अनुकूलतायें मिलती है, किन्तु यह प्रसिद्ध कहावत है कि **'सबै दिन जात न एक समाना'** अर्थात् सभी दिन एक समान नहीं रहते। भोगभूमि का काल भी भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में एकसा नहीं रहता, समय के साथ–साथ सब कुछ बदल जाता है। भोगभूमि का काल उत्तम

---

109. हरिवंश पुराण, 7/99–101

110. तिलोयपण्णत्ती, 4/396–395

111. हरिवंश पुराण, 7/102–104

से मध्यम एवं जघन्य होकर अब समापन की ओर बढ़ता है। इसमें लगभग 9 कोड़ाकोड़ी सागर का काल व्यतीत हो जाता है।

तृतीय काल के अन्त में धीरे–धीरे कल्पवृक्षों की फलदान सामर्थ्य कम होने लगती है। अब युग परिवर्तन होना है, भोगभूमि समाप्त होगी और कर्मभूमि का प्रारंभ होगा। इस संधि काल में सृष्टि में बहुत बड़े प्राकृतिक परिवर्तन होने लगते हैं, इनसे भयभीत प्रजा की समस्याओं को दूर करने के लिये कुल परम्परा से धरातल पर विशिष्ट पुण्यशाली महापुरुषों का जन्म होता है, जिन्हें जैन परम्परा में कुलकरों के नाम से जाना जाता है।

**कुलकर व्यवस्था –**

भोगभूमि के अंतिम चरण में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों के आर्य खण्डों की भूमि पर अत्यन्त युगान्तरकारी प्राकृतिक एवं जैविक परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से अनभिज्ञ एवं भयभीत मानव जाति को, इन परिवर्तनों के अनुकूल सामंजित होने का उपदेश देने वाले कुछ महापुरुषों का जन्म तृतीय काल के अंत में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में होता है, जिन्हें जैन ग्रन्थों में मुख्यरूप से कुलकर कहकर पुकारा है, **हिन्दू पुराणों** में इनके लिये **मनु** शब्द का प्रयोग मिलता है। जैन आगमों में कहा है कि जब चतुर्थ काल प्रारंभ होने में पल्य का आठवाँ भाग शेष रहता है, तब क्रम से 14 कुलकर उत्पन्न होते हैं।

सुषमादुषमा नामक तीसरा काल समाप्त होने में जब पल्य का आठवाँ भाग प्रमाण काल शेष रह गया तथा कल्पवृक्ष भी क्रम–क्रम से कम होने लगे तब इस भरत क्षेत्र की दक्षिण दिशा

में गंगा और सिन्धु नदियों के बीच आर्यखण्ड में 14 **कुलकरों** की उत्पत्ति हुई।[112] ये प्रजा के जीवन जीने के उपाय का मनन करने अर्थात् जानने से **मनु** तथा आर्य पुरुषों के कुलों की रचना करने से **कुलकर** कहलाते हैं, इन्होंने अनेक वंश (कुल) स्थापित किये थे, अतः कुलों को धारण करने से **कुलधर** हैं तथा युग के आदि में होने से ये **युगादिपुरुष** भी कहे जाते हैं।[113] आचार्य यतिवृषभ[114] कहते हैं – ये सब कुलों के धारण करने से **कुलधर** नाम से और कुलों के करने में कुशल होने से **कुलकर** नाम से भी लोक में प्रसिद्ध हैं। वे इनकी मनुसंज्ञा की सार्थकता बताते हुये कहते हैं – ये अपने अवधिज्ञान एवं जातिस्मरण ज्ञान से भोगभूमिज मनुष्यों को जीवन के उपाय बताते हैं, इसलिये मुनिन्द्रों द्वारा मनु कहे जाते हैं।[115] स्थानांग सूत्र की वृत्ति में आचार्य अभयदेव[116] ने लिखा है कि कुल की व्यवस्था का संचालन करने वाला प्रकृष्ट प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति **कुलकर** कहलाता था।

चौदह कुलकरों के नाम त्रिलोकसार[117] एवं आदिपुराण[118] के अनुसार इसप्रकार हैं – प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमन्धर, सीमंकर, सीमन्धर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित्, नाभिराय।

---

112. हरिवंशपुराण, 7/122–124
113. (1) आदिपुराण, 3/211–212, (2) लोकविभाग, 5/120–121
114. तिलोयपण्णत्ती, 4/516
115. वही, 4/515
116. स्थानांगवृत्ति, 767/518/1 (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र, प्रस्तावना, पृष्ठ–28 से साभार)
117. त्रिलोकसार, गाथा–792–793
118. आदिपुराण, 3/229 से 232

त्रिलोकसार[119] एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र[120] में नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव को पन्द्रहवाँ कुलकर बताया है। लोकविभाग[121] एवं आदिपुराण[122] में नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव एवं उनके पुत्र भरत को भी पन्द्रहवें एवं सोलहवें कुलकर के रूप में स्वीकार किया है, इन सभी **कुलकरों** के लिये आदिपुराण में **मनु** शब्द का प्रयोग भी किया गया है।

ये सभी कुलकर पूर्वभव में विदेह क्षेत्रों में उच्चकुलीन महापुरुष थे, वहाँ पर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पहले ही भोगभूमि की आयु बांधकर तीसरे काल में भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुये।[123] इन 14 कुलकरों में से कितने ही कुलकरों को जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञान के धारक थे।[124] अतः अपने विशिष्ट ज्ञान की सामर्थ्य से प्रजा की विभिन्न समस्याओं का समाधान किया करते थे।

भोगभूमि में सदैव कल्पवृक्षों का प्रकाश रहता था; अतः सूर्यचन्द्रादि विमान दिखाई नहीं देते थे। अब कल्पवृक्ष समाप्त हो जाने से वे सूर्यचन्द्रादि दिखाई देने लगे, उन्हें देखकर लोगों को भयंकर भय उत्पन्न हुआ। भोगभूमि में पुत्र–पुत्री का जन्म होते ही माता–पिता का मरण हो जाता था, वे लोग बच्चों का मुख

---

119. त्रिलोकसार, गाथा–793
120. **इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था** – जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र/2/35/पृ. 54
121. लोकविभाग, 5/122
122. **वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू।** – आदिपुराण, 3/232
123. आदिपुराण, 3/207–209
124. वही, 3/210

नहीं देखपाते थे, अब बच्चों का मुख देखकर डरने लगे – इसप्रकार की अनेक समस्याँए भोगभूमि के समापन के समय उत्पन्न होने लगती है, जिनका समुचित समाधान कुलकरों के माध्यम से किया जाता है।

उस समय अपराधी को यदि इतना कह दिया जाता था कि **'हा'** अर्थात् ये क्या किया ? बस इतना शब्द मात्र अपराधी के लिये सजा का कार्य करता था। इससे बड़ी सजा के रूप में मकार दण्ड व्यवस्था प्रचलित हुई। जिसमें अपराधी को 'हा' के अतिरिक्त 'मा' कहा जाता था। **'मा'** अर्थात् अब मत करना। सबसे बड़ी सजा थी – **'धिक्'** अर्थात् धिक्कार है। इसप्रकार कुलकरों के समय हकार, मकार और धिक्कार (हा–मा–धिक) – ये तीन नीतियाँ दण्ड के रूप में प्रचलित हुईं। ज्यों–ज्यों काल व्यतीत होता चला गया, त्यों–त्यों मानव के अन्तर्मानस में परिवर्तन होता गया और अधिकाधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई।

कुल परम्परा से हुये चौदह कुलकरों के सामने उपस्थित विविध प्रकार की समस्याओं/परिस्थितियों और उनके उपदेश द्वारा दिये गये विशिष्ट समाधान को तिलोयपण्णत्ती[125] में 83 गाथाओं में, हरिवंशपुराण[126] में 46 श्लोकों में तथा आदिपुराण[127] में लगभग 100 श्लोकों में बहुत विस्तार से बताया है, यहाँ उस सम्पूर्ण विषय वस्तु को **संक्षिप्त चार्ट** के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

---

125. तिलोयपण्णत्ती, 4/428–510
126. हरिवंश पुराण, 7/125 से 170
127. आदिपुराण, 3/55–151, 164

| क्रम | नाम | समस्या / परिस्थिति | उपदेश / समाधान |
|---|---|---|---|
| 1. | प्रतिश्रुति | आकाश में चन्द्र–सूर्य को देखकर प्रजा भयभीत थी। | ये चन्द्र–सूर्य नित्य ही हैं, तेजांग जाति के कल्पवृक्षों का तेज मंद पडने से अब प्रगट हुये हैं, इसप्रकार सूर्य–चन्द्र का परिचय देकर प्रजा का भय दूर किया। |
| 2. | सन्मति | सूर्य के अस्त होने पर अंधकार और तारा पंक्तियों को देखने से प्रजा में उत्पन्न भय। | तेजांग कल्पवृक्ष सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, ऐसा ज्ञान कराकर अंधकार और तारागणों का परिचय देकर भय दूर किया। |
| 3. | क्षेमंकर | व्याघ्रादि तिर्यंचों में क्रूर परिणामों को देखकर प्रजा में भय व व्याकुलता। | काल के विकार से ये तिर्यंच क्रूरता को प्राप्त हुये हैं, अतः अब इनका विश्वास कदापि नहीं करना, ऐसा दिव्य उपदेश दिया। |
| 4. | क्षेमन्धर | क्रूरता को प्राप्त सिंहादि तिर्यंचों द्वारा मनुष्यों का भक्षण। | उन क्रूर तिर्यंचों से अपनी सुरक्षा के उपायभूत दण्डादि रखने का उपदेश दिया। |
| 5. | सीमंकर | कल्पवृक्ष अल्प फलवाले हुये, मनुष्यों में लोभ की वृद्धि होने से उनके स्वामित्व में परस्पर झगड़ा। | कल्पवृक्षों की सीमाओं के निर्धारण द्वारा पारस्परिक संघर्ष पर रोक। |
| 6. | सीमन्धर | कल्पवृक्षों की अत्यन्त हानि के कारण कलह में वृद्धि। | कल्पवृक्षों को चिन्हित करके उनके स्वामित्व का विभाजन। |
| 7. | विमलवाहन | गमनागमन में बाधा / पीड़ा का अनुभव। | हाथी, घोड़ा आदि की सवारी तथा वाहनों के प्रयोग का उपदेश। |

| क्रम | नाम | समस्या / परिस्थिति | उपदेश / समाधान |
|---|---|---|---|
| 8. | चक्षुष्मान् | अबतक सन्तान का मुख देखने से पूर्व ही माता–पिता का मरण हो जाता था, पर अब सन्तान का मुख देखने के बाद मरण होने लगा, अतः अपने ही बालकों को देखकर भयभीत होना। | सन्तान का परिचय देकर भय दूर किया। |
| 9. | यशस्वी | भोगभूमिज युगल बालकों का नाम रखनेतक जीवित रहनेलगे। | बालकों के नामकरण की शिक्षा। |
| 10. | अभिचन्द्र | माता–पिता बालकों का बोलना व खेलना देखने तक जीवित रहने लगे। | शिशुओं का रुदन रोकने हेतु उपदेश तथा उन्हें बोलना एवं खेलना सिखाने की शिक्षा। |
| 11. | चन्द्राभ | शीत बढ गई, तुषार छाने लगा तथा अतिवायु चलने लगी थी। | सूर्य की किरणों से शीत निवारण की शिक्षा तथा कर्मभूमि की निकटता का ज्ञान। |
| 12. | मरुदेव | मेघ, वर्षा, बिजली, नदी, पर्वत आदि के दर्शन। | नौका, छाता आदि के प्रयोग का उपदेश तथा पर्वत पर सीढ़ियाँ बनाने की शिक्षा। |
| 13. | प्रसेनजित् | वर्तिपटल (जरायु) से वेष्टित युगल शिशु का जन्म देखकर माता–पिता भयभीत। | वर्तिपटल (जरायु) दूर करने का उपदेश। |
| 14. | नाभिराय | बालकों का नाभिनाल अत्यन्त लम्बा होने लगा तथा कल्पवृक्षों का अत्यन्त अभाव हो गया। पृथ्वी पर औषधि, धान्य व फलों की उत्पत्ति होने लगी। | नाभिनाल काटने का एवं आजीविका के उपाय का उपदेश, औषधियों व धान्य आदि की पहिचान तथा उनके प्रयोग की शिक्षा। |

## अवसर्पिणी के अंतिम तीन काल (कर्म भूमि) –

जिस भूमि में असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प, वाणिज्य आदि कर्म की प्रधानता हो, वह **कर्मभूमि** है। इसके अन्तर्गत जिन दुःषमादि तीन काल विभागों की गणना की जाती है, वे विभाग कृषि आदि षट्कर्म प्रधान होने के कारण कर्मभूमि के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

जैन परम्परानुसार वर्तमान कल्पार्द्ध में कर्मभूमि की व्यवस्था के आद्य संस्थापक राजा ऋषभदेव थे। उन्होंने ही जीविकोपार्जन के लिये भारतवासियों को सर्वप्रथम षट्कर्मों का उपदेश दिया। अंतिम कुलकर नाभिराय के पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत भी सुषमा–दुषमा नामक तीसरे काल में ही उत्पन्न हुये। इसी काल में ऋषभदेव का निर्वाण भी हो गया। यद्यपि तृतीय काल भोगभूमि का काल है, तथापि इस काल के अंतिम चरणों में ही कर्मभूमि का प्रारंभ हो गया था।

## अवसर्पिणी का चतुर्थ काल (दुषमा–सुषमा) –

अवसर्पिणी काल के प्रारंभ से 9 कोड़ाकोड़ी सागर तक चलता हुआ भोगभूमि का काल समाप्त होने के पश्चात् 1 कोड़ाकोड़ी सागर में 42000 वर्ष कम प्रमाण वाला दुषमा–सुषमा नामक चौथा काल प्रारंभ होता है। यह काल ऋषभदेव के निर्वाण जाने के 3 वर्ष, 8 माह 15 दिन पश्चात् प्रारंभ हुआ।[128]

---

128. तिलोयपण्णत्ती, 4/1287

इस काल में कल्पवृक्षों का पूर्णतः अभाव होता है और उनके स्थान पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ स्वयमेव उगने लगती हैं। पहले तो मानव जीवन इन्हीं पर आधारित रहा, किन्तु धीरे–धीरे जब इनका भी अभाव होने लगा तब मानव ने कृषि आदि श्रमपूर्ण कार्यों से अपनी आवश्यकतानुसार उनका उत्पादन आदि प्रारम्भ कर दिया। कृषि आदि षट् कर्मों की मुख्यता से ही इस काल को कर्मभूमि का काल कहा गया है।

इस काल के प्रारंभ में उत्कृष्ट आयु 1 कोटि पूर्व की होती है, शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना (ऊँचाई) 525 धनुष तथा पृष्ठ भाग की हड्डियाँ अड़तालीस होती है।[129] लोकविभाग में इनकी उत्कृष्ट ऊँचाई 500 धनुष बताई है।[130] इनकी उत्कृष्ट आयु लगभग एक कोड़ाकोड़ी सागर काल तक क्रमशः घटते–घटते अन्त में 120 वर्ष रह जाती है। कर्म भूमि के सभी मनुष्य, तिर्यंचों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त होती है।[131]

**तरेसठ शलाका पुरुष –**

इस चतुर्थ काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में पुण्योदय से मनुष्यों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध 63 शलाका पुरुष – 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण उत्पन्न होते हैं।[132] ये सभी पदवियाँ सम्यग्दृष्टि जीवों को ही प्राप्त

129. तिलोयपण्णत्ती, 4/1288
130. लोकविभाग, 5/143
131. त्रिलोकसार, गाथा–330
132. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/517–518
(2) लोकविभाग, 5/142

होती हैं। पश्चात् इनमें से नरक जाने वालों के सम्यक्त्व छूट जाता है; किन्तु वे भी भविष्य में कभी न कभी पुनः सम्यक्त्व लेकर मोक्ष अवश्य जाते हैं।

**तीर्थंकर** – जो धर्मतीर्थ का उपदेश देते हैं, समवशरण आदि विभूतियों से युक्त होते हैं और जिनके तीर्थंकर नामकर्म[133] नाम का महापुण्य का उदय होता है, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। चार घातिया कर्मों का अभाव होने से इनकी अरिहंत संज्ञा है। इनके जीवन में सर्वोत्कृष्ट पुण्योदय दिखाई देता है; इसलिये आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इनके लिये **पुण्णफलां अरहंता**[134] शब्द का प्रयोग किया है।

प्रत्येक उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल में 24 तीर्थंकर होते हैं। ये सभी जैन धर्म के प्रवर्तक हैं, सिद्धान्तों को बताने वाले हैं; बनाने वाले नहीं हैं। ये प्राणी मात्र को समान बताकर, सबके प्रति समभाव का उपदेश देते हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र तीर्थंकर का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखते हैं –

**'तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृतवतः।'**[135] अर्थात् संसार से तारने के कारणभूत हो, वह तीर्थ है, ऐसा तीर्थ आगम है, उसके कर्त्ता तीर्थंकर हैं। धर्मतीर्थ को चलाने वाले होने से ये तीर्थंकर कहलाते हैं। इनकी बहुत बड़ी धर्मसभा होती है, जिसे समवशरण के नाम से जाना जाता है।

---

133. **तीर्थंकर नामकर्म** – ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों में नामकर्म की एक प्रकृति। इस कर्म के उदय में तीर्थंकरपना होता है।

134. प्रवचनसार, गाथा–45

135. समाधितंत्र, श्लोक–2 संस्कृत टीका

आचार्य यतिवृषभ[136] कहते हैं – इसमें पूर्वादि प्रदक्षिणा रूप से 12 कोठे (सभा) होते हैं। जिनमें उनके प्रमुख शिष्य गणधर एवं मुनिराज, चार प्रकार के देव, चार प्रकार की देवियाँ, आर्यिका व स्त्रियाँ, पुरुष एवं तिर्यंच बैठकर धर्मोपदेश का लाभ प्राप्त करते हैं। तिर्यंच गति के हाथी, सिंह, व्याघ्र और हिरणादि भी परस्पर बैर को छोड़कर समवशरण में मित्र भाव से बैठते हैं।

हम भी अनन्त बार समवशरण में गये, तीर्थंकर परमात्मा की वाणी भी सुनी, उनकी महिमा भी आई; किन्तु फिर भी अपने निज ज्ञायक की महिमा एवं उसका अवलम्बन न होने से संसार समुद्र से पार होने की राह न मिल सकी।

**चक्रवर्ती** – प्रत्येक चतुर्थ काल में 12 चक्रवर्ती होते हैं। वर्तमान चतुर्थ काल में भरत क्षेत्र में भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त – ये 12 चक्रवर्ती[137] छह खण्डरूप पृथ्वीमंडल को जीतने वाले परमप्रतापी पुरुष हुये हैं।

इन सभी चक्रवर्तियों का वैभव तिलोयपण्णत्ती में 4/1382 से 1409 तक बहुत विस्तार से बताया है। इनके 96000 रानियाँ, 84 लाख हाथी, 18 करोड़ घोड़े, कई करोड़ विद्याधर, 88000 म्लेच्छ राजा, 32000 मुकुटबद्ध राजा, इतनी ही नाट्यशालायें, इतनी ही संगीत शालायें, 14 रत्न, 9 निधियाँ, 32000 अंगरक्षक देव, छत्र, 32 चँवर आदि होते हैं। इन समस्त दिव्य वैभव से युक्त होकर वे

136. तिलोयपण्णत्ती, 4/865–872 का सार

137. वही, 4/522–523

दशांग भोग भोगते हैं।

ध्यान रहे, चक्रवर्ती यदि राज्य भोग में मरे तो नियम से सातवें नरक में जाते हैं और यदि राज्य का त्याग कर मुनिव्रत अंगीकार करे तो ऊर्ध्वगामी/स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ये सभी भोग हमें देखने/भोगने में तो बहुत अच्छे लगते हैं; किन्तु हैं बहुत खतरनाक। पंचेन्द्रिय विषय भोगों को भोगना अथवा भोगने के परिणामों का फल तो अधोगति ही है; अतः सावधान रहकर इनसे विरक्त होने की भावना भाना चाहिये।

**बलदेव, नारायण व प्रतिनारायण** – वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में तीर्थंकर एवं चक्रवर्तियों के समान ही विशिष्ट पुण्यशाली 9 बलदेव, 9 नारायण एवं 9 प्रतिनारायण हुये हैं। तिलोयपण्णती[138] में उन सभी के नामों का उल्लेख निम्नानुसार मिलता है – विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, राम और पद्म – ये नौ **बलदेव** हुये हैं। त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, नारायण (लक्ष्मण) और कृष्ण – ये नौ **नारायण (विष्णु)** हैं तथा अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुंभ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासंध – ये नौ **प्रतिनारायण** (प्रतिशत्रु) हैं। इनके पर्यायान्तर के संबंध में आचार्य यतिवृषभ का मूल कथन निम्नानुसार है –

**'उड्ढंगामी सव्वे बलदेवा केसवा अधोगामी'**[139] अर्थात् सभी बलदेव नियम से ऊर्ध्वगामी (स्वर्ग या मोक्षगामी) होते हैं

138. तिलोयपण्णत्ती, 4/524–526 तथा 4/1423–1425

139. वही, 4/1448

और सभी नारायण नियम से अधोगामी (नरक जाने वाले) होते हैं तथा **'तहेव पडिसत्तू'**[140] शब्द का प्रयोग कर वे प्रतिनारायण की भी नियम से अधोगति बताते हैं।

इनमें नारायण नियम से बलदेव के छोटे भाई होते हैं।[141] प्रतिनारायण तीन खण्ड का शासक होता है। जैन आगमों[142] के अनुसार सभी प्रतिनारायणों की मृत्यु नारायणों के द्वारा ही होती है। उसे मारकर ही नारायण तीन खण्डों का अधिपति होता है, उसे **अर्द्धचक्री** कहा जाता है। रावण प्रतिनारायण था, अतः उसका वध बलदेव राम ने नहीं, नारायण लक्ष्मण ने किया था। पदमपुराण[143] में रावण एवं लक्ष्मण के युद्ध का विस्तृत वर्णन किया गया है।

उक्त सभी शलाका पुरूष कर्मभूमि में ही होते हैं; क्योंकि इनके जीवन में विशिष्ट कर्म का उदय होता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी[144] कर्मभूमि ही उसे कहते हैं, जहाँ शुभ एवं अशुभ कर्मो का आश्रय हो। यद्यपि तीन लोक में सर्वत्र कर्म का आश्रय हैं, फिर भी इससे कर्मभूमि में उत्कृष्टता का ज्ञान होता है कि इनके प्रकर्ष रूप से कर्म का आश्रय हैं। सातवें नरक को प्राप्त करने वाले अशुभ कर्म का भरतादि क्षेत्रों में ही अर्जन किया जाता है। इसीप्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेष को प्राप्त करने वाले पुण्य कर्म

---

140. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1450
141. पद्म पुराण, भाग–1, 20 / 214
142. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1435
143. पदमपुराण, भाग–3, 76 / 28–34 / पृ.69
144. सर्वार्थसिद्धि, 3 / 37 / 437 / पृ. 173

का उपार्जन तथा पात्रदान आदि के साथ कृषि आदि छह प्रकार के कर्म का आरम्भ भी यहीं पर होता है, इसलिये भरतादि (भरत, ऐरावत, विदेह) की कर्मभूमि संज्ञा सार्थक है।

**अवसर्पिणी का पंचम काल (दुषमा) –**

भगवान महावीरस्वामी का निर्वाण होने के तीन वर्ष आठ माह पन्द्रह दिन पश्चात् पंचम काल का प्रारंभ हुआ।[145] यह पंचम काल 21000 वर्ष प्रमाण है, इसके प्रारंभ में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु 120 वर्ष, ऊँचाई 7 हाथ और पृष्ठ भाग की हड्डियाँ चौबीस कही गई हैं।[146]

भगवान महावीर निर्वाण के बाद भी इस पंचम काल के प्रारंभ में चतुर्थ काल के जन्मे अनेक लोगों ने मुक्ति प्राप्त की। भगवान महावीर के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मस्वामी एवं जम्बूस्वामी – ये तीन अनुबद्ध केवली[147] हुये। इस युग में अंतिम मोक्ष जाने वालों में श्रीधर केवली का नाम आता है, वे कुण्डलपुर–दमोह से मोक्ष गये।[148] केवलियों के पश्चात् द्वादशांग के ज्ञाता पाँच श्रुतकेवली हुये।[149] अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी से प्रसिद्ध ऐतिहासिक सम्राट **चन्द्रगुप्त मौर्य** जिनदीक्षा अंगीकार करने वाले अंतिम मुकुटबद्ध शासक थे। भारतीय इतिहास में भी चन्द्रगुप्त के

145. तिलोयपण्णत्ती, 4/1486
146. (1) वही, 4/1487
    (2) लोकविभाग, 5/146 (पूर्वार्द्ध)
147. वही, 4/1488–89
148. 'कुंडलगिरिम्मि चरिमो, केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।' – तिलोयपण्णत्ती, 4/1491
149. तिलोयपण्णत्ती, 4/1494

राज्याभिषेक आदि का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु इनकी मृत्यु कहाँ/कैसे हुई, इस विषय में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।[150]

वीर निर्वाण के 683 वर्ष बाद तक अंग एवं पूर्वों के ज्ञाता मुनिराजों द्वारा श्रुत परम्परा चलती रही, फिर आचार्य लोहार्य के पश्चात् कोई आचारांग के धारक नहीं हुये। किन्तु फिर भी आगे 20,317 वर्षों तक (683+20317) श्रुततीर्थ परम्परा हीयमानरूप से चलती रहेगी। तत्पश्चात् पंचम काल की समाप्ति पर श्रुत का व्युच्छेद हो जायेगा।[151] बीच–बीच में भी धर्म को विध्वंस करने की चेष्टा करने वाले कल्की एवं उपकल्की होते रहेंगे।

**कल्की एवं उपकल्की –**

जैनागम में कल्की नाम के राजा का उल्लेख जैन यतियों पर अत्याचार करने के लिये बहुत प्रसिद्ध है। तिलोयपण्णत्ती में इस पंचम काल में 21 कल्की एवं 21 उपकल्की होने का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक कल्की 1000 वर्ष के अन्तराल से तथा उसके 500 वर्ष पश्चात् उपकल्की होता है।[152] वीरनिर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् इन्द्रपुर में कल्की उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख, आयु 70 वर्ष एवं राज्यकाल 42 वर्ष रहा।[153] वह अपने राज्यकाल में अतिलोभी होकर मुनिराज के आहार में से भी प्रथम ग्रास शुल्क स्वरूप मांगने लगा। मुनिराज अन्तराय जानकर निराहार चले गये। उनको अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

---

150. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग–1, परिशिष्ट, पृष्ठ–482 सारांश
151. तिलोयपण्णत्ती, 4/1504–1505 का सार
152. वही, 4/1528
153. वही, 4/1521

इस घटना को कोई असुरदेव अपने अवधिज्ञान से देखकर धर्मद्रोही कल्की को मार डालता है। उस कल्की का पुत्र अजितंजय 'रक्षा करो..रक्षा करो.. कहकर' देव के चरणों में नमस्कार करता है, और वह देव 'धर्मपूर्वक राज्य करो' कहकर उसकी रक्षा करता है। इसके पश्चात् कुछ वर्षों तक लोगों में धर्म की वृत्ति होती है, फिर वह पुनः हीन होती जाती है।[154] ऐसी ही परिस्थिति प्रत्येक कल्की एवं उपकल्की के काल में बनती है। प्रत्येक कल्की के प्रति दुषमा (पंचम) कालवर्ती एक—एक साधु को अवधिज्ञान होता है।

इस पंचम काल के प्रारंभ से ही विविध वनस्पतियाँ नीरस हो जाती है। मनुष्य अपने कुलक्रम से प्राप्त शील, सत्य, बल, तेज, तथा यथार्थ ज्ञान आदि गुणों से हीन पुरुषों की सेवा करते हैं, स्वयं मिथ्यात्व और मोह से ग्रस्त रहने के कारण मर्यादा और लज्जा से रहित हो जाते हैं। इस काल के मनुष्य विनय विहीन, चिन्तायुक्त, दम्भ, मद, क्रोध, लोभ एवं निर्दयता की मूर्ति दिखते हैं। इस काल में जीव पाप करके आते हैं और पापाचरण करते हुये ही जीवनयापन करते हैं।[155]

**कुछ जीवों को पूर्व पुण्योदय से कुदान आदि के फल में बाहरी अनुकूलतायें भी प्राप्त होती दिखती है, फिर भी चित्त तो अशान्त ही रहता है। कुछ लोगों को जिनवाणी के अवलम्बन से तत्त्वाभ्यास करते हुये किंचित् शान्ति का अनुभव होता है, उनकी संख्या अत्यल्प है, वे विरले हैं।**

---

154. तिलोयपण्णत्ती, 4/1523—1527

155. (1) वही, 4/1530—1535 का सार

(2) लोक विभाग, 5/147—148

इस पंचम काल में संयम गुण से विशिष्ट मनुष्यों का अभाव होने के कारण यहाँ चारण ऋद्धिधारी मुनि, देव (वैमानिक) और विद्याधर भी नहीं आते।[156]

अंतिम कल्की –

अभी वर्तमान में भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों में पंचम काल चल रहा है, धीरे–धीरे यहाँ धर्म, आयु और ऊँचाई आदि कम होते जायेंगे, पश्चात् अन्त में इक्कीसवाँ कल्की उत्पन्न होगा। उस समय वीरांगज नामक एक भावलिंगी मुनिराज, सर्वश्री नामकी आर्यिका, अग्निल और पंगुश्री नामक श्रावक युगल होंगे।

सर्वज्ञ कथित जिनागम में भविष्य की घटनाओं का नामोल्लेख सहित स्पष्ट निरूपण केवलज्ञान की विशिष्ट सामर्थ्य को बताता है। आगमों में प्रत्येक पंचम काल के अन्त में घटने वाली एक घटना का उल्लेख निम्नानुसार किया है –

एक दिन कल्की अपने मंत्री से कहता है कि मंत्रिवर ! ऐसा कोई पुरुष तो नहीं है, जो मेरे वश में न हो। तब मंत्री कहता है कि राजन् ! एक मुनि आपके वश में नहीं है। तब कल्की राजा की आज्ञा होती है कि तुम उस मुनि के आहार में प्रथम ग्रास को शुल्क के रूप में ग्रहण करो। तत्पश्चात् कल्की की आज्ञा से प्रथम ग्रास माँगे जाने पर मुनीन्द्र तुरंत उसे देकर और अंतराय करके वापस चले जाते हैं और अवधिज्ञान को प्राप्त होकर उसी समय आर्यिका, श्रावक–श्राविका को बुलाकर प्रसन्नचित्त से कहते हैं कि अब दुषमा काल का अंत आ चुका है, तुम्हारी और हमारी तीन

156. तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1537

दिन की आयु शेष है और यह अंतिम कल्की है।

तब चारों जन, चार प्रकार के आहार आदि का त्याग कर देते हैं और कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन सूर्य के स्वाति नक्षत्र में रहते समाधि मरण पूर्वक देह त्याग कर **सौधर्म स्वर्ग** में उत्पन्न होते हैं। मुनिराज एक सागरोपम की आयु लेकर तथा अन्य तीनों पल्योपम से कुछ अधिक आयु लेकर जन्मते हैं।[157]

उसी दिन मध्यान्ह में असुरकुमार जाति का कोई देव कल्की को मार डालता है और सूर्यास्त समय से अग्नि नष्ट हो जाती है।

**अवसर्पिणी का छठा काल (अतिदुषमा) –**

अंतिम कल्की की मृत्यु के 3 वर्ष 8 माह 15 दिन पश्चात् अतिदुषमा नामक छठा काल प्रारंभ होता है। यह भी 21000 वर्ष का होता है। इसके **प्रारंभ में** मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई तीन अथवा साढ़े तीन हाथ, पृष्ठ भाग की हड्डियाँ बारह और उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष प्रमाण होती है। अवसर्पिणी काल के प्रभाव से इसमें क्रमशः ह्रास होते हुये छठे काल के **अन्त में** मनुष्यों की ऊँचाई मात्र एक हाथ प्रमाण तथा उत्कृष्ट आयु 15–16 वर्ष मात्र रह जाती है।[158]

इस काल में जन्मे जीवों का जीवन अत्यन्त दुःखमय बीतता है। इस काल में अग्नि न होने के कारण जीवों को कच्चा भोजन ही करना पड़ता है। धान्य आदि का उत्पादन बन्द हो जाने से वृक्षादि की मूल और मछली आदि ही उनका मुख्य आहार हो

157. तिलोयपण्णत्ती, 4/1541–1553 (सारांश)

158. वही, 4/1557, 1575

जाता है। इस काल के सभी जीव माँसाहारी होते है। ये मनुष्य मकान और वस्त्रों से रहित जंगलों में घूमते रहते हैं। पाप उदय से गूंगे, बहरे, अंधे, काणे, क्रूर, दरिद्री, काले, नंगे, कुबडे, हुण्डकसंस्थान वाले, अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित, दुर्गंधित शरीर युक्त, पापिष्ठ, परिवाररहित, पशुओं के समान आचरण करने वाले होते हैं। आचार्य यतिवृषभ कहते हैं –

**दुक्खाण ताण कहिदुं, को सक्कइ एक्क जीहाए।**[159]

अर्थात् उनके दुःखों को एक जिव्हा से कहने में कौन समर्थ है ? कोई नहीं।

पाप के फल में ऐसे काल में जन्म होता है और यहाँ रहकर भी निरन्तर पाप करने से पुनः अधोगति की प्राप्ति होती है। इस संदर्भ में तिलोयपण्णत्ती[160] में यह नियम बताया है कि – इस काल में जन्मे सभी जीव नियम से नरक–तिर्यंच गति से ही आते हैं और मरकर भी नरक–तिर्यंच गति में ही जाते हैं।

**कल्पान्त काल (प्रलय) –**

कल्प काल का प्रारंभ उत्सर्पिणी से होता है तथा अवसर्पिणी के छठे काल की समाप्ति के साथ ही कल्प काल भी समाप्त हो जाता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी को मिलाकर एक कल्प काल होता है। कल्प काल समाप्त होने में जब 49 दिन शेष बचते हैं, तब यहाँ के सर्व प्राणियों में भयोत्पादक प्रलय काल[161] प्रारंभ

159. तिलोयपण्णत्ती, 4/1564 (उत्तरार्द्ध)

160. वही, 4/1563

161. वही, 4/1565

होता है। सर्वप्रथम महागम्भीर, भीषण तूफान प्रारंभ होता है, जो वृक्षों एवं पर्वतों को चूर्ण कर देता है। आचार्य मानतुंग[162] कहते हैं कि **कल्पान्तकाल मरुता चलिताचलेन** अर्थात् ये कल्पान्त काल की हवायें अचल (पर्वत) को भी चलित कर देती है। ऐसे भयंकर तूफान के समय सभी प्राणी महादुःखी होते हुये सुरक्षा के लिये शरण खोजते रहते हैं, किन्तु उनमें से पृथक्–पृथक् संख्यात एवं सम्पूर्ण 72 युगल[163] ही गंगा–सिन्धु नदियों की वेदी और विजयार्द्ध वन के मध्य गुफाओं आदि में सुरक्षा पाते हैं। इन्हीं स्थानों पर दयालु देवों और विद्याधरों[164] द्वारा भी संख्यात मनुष्य एवं तिर्यंचों को सुरक्षित पहुँचा दिया जाता है।

49 दिन तक चलने वाले इस प्रलय के दौर में भयंकर गर्जना युक्त मेघों द्वारा सात–सात दिन तक निरन्तर क्रमशः बर्फ, क्षारजल, विषजल, धूम्र, धूलि, वज्र और अग्नि की वर्षा होती है, इससे भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित **एक योजन वृद्धिंगत भूमि** जलकर नष्ट हो जाती है।[165]

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मान्य वर्तमान उपलब्ध दुनिया को जैन मान्यतानुसार आर्यखण्ड की इस वृद्धिंगत भूमि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह एक योजन अर्थात् लगभग

162. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक–15
163. (1) 'पुहपुह संखेज्जाइं, बाहत्तरि सयल जुयलाइं'
— तिलोयपण्णत्ती, 4/1568
(2) लोकविभाग, 5/160
164. 'देवा विज्जाहरया, कारुण्णपरा णराण तिरियाणं'
— तिलोयपण्णत्ती, 4/1569
165. (1) तिलोयपण्णत्ती, 4/1570–1573 का सार
(2) लोक विभाग, 5/161–163

6000 किलोमीटर मध्य से ऊपर उठी हुई भूमि प्रलय के पश्चात् छठे काल के अन्त में पुनः समतल हो जायेगी।

**तिलोयपण्णत्ती** में इस वृद्धिंगत भूमि के जलकर नष्ट होकर पुनः समतल होने की बात तो कही है, परन्तु यह भूमि कब और कैसे वृद्धिंगत हुई, इसके कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके हैं। यह अभी भी शोध का विषय है। **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक** 4/13 पृष्ठ 563 में लिखा है कि काल के वश से घट–बढ़ होकर पृथ्वी में ऊँचा–नीचा पना देखा जाता है। तिलोयपण्णत्ती के प्रमाण अनुसार भी यह तो निश्चित ही है कि आर्यखण्ड की भूमि एक योजन वृद्धिंगत हुई है। यह उठा हुआ भूभाग ही आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा मान्य अर्थ/पृथ्वी है।

## हुण्डावसर्पिणी काल –

असंख्यात[166] अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल बीत जाने पर एक प्रसिद्ध अपवाद स्वरूप हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इसमें होने वाली अनेक विचित्रताओं की चर्चा तिलोयपण्णत्ती[167] आदि ग्रन्थों में दी है, उनका संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

(1) सुषमा–दुषमा नामक भोगभूमि के तृतीय काल में ही वर्षा होना तथा विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लग जाना।

(2) जघन्य भोगभूमि में ही कल्पवृक्षों का अंत, कर्मभूमि का प्रारंभ तथा प्रथम तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती का भी उत्पन्न हो जाना।

---

166. तिलोयपण्णत्ती, 4/1637

167. वही, 4/1637–1645

(3) सुषमा–दुषमा काल में ही जीवों का मोक्षगमन प्रारम्भ।

(4) चक्रवर्ती का विजय भंग और उसके द्वारा ब्राह्मण वर्णोत्पत्ति।

(5) शलाका पुरुषों की 63 संख्या में कमी होना।

(6) 9वें से 16 वें तीर्थंकरों के बीच धर्म की व्युच्छित्ति होना।

(7) ग्यारह रूद्र और कलह प्रिय नौ नारद उत्पन्न होना।

(8) सातवें, तेईसवें एवं अंतिम तीर्थंकर पर उपसर्ग होना।

(9) तीसरे, चौथे एवं पंचम काल में उत्तम धर्म को नष्ट करने वाले विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिंगी भी दिखने लगते हैं।

(10) चाण्डाल, शबर, पुलिंद, किरात इत्यादि हीन जातियाँ उत्पन्न होती हैं।

(11) दुषमा नामक काल में 42 कल्की एवं उपकल्की होते हैं।

(12) अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूवृद्धि और वज्राग्नि आदि का गिरना।

प्रत्येक अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी में होने वाले तीर्थंकरों का जन्म नियम से अयोध्या में ही होता है तथा सभी तीर्थंकर नियम से सम्मेदशिखर से ही मुक्ति प्राप्त करते हैं,[168] किन्तु काल के प्रभाव से वर्तमान में 5 ही तीर्थंकर अयोध्या में जन्मे तथा सम्मेदशिखर से भी 20 ही तीर्थंकरों ने निर्वाण की प्राप्ति की। कुछ लोग प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्री होने के पीछे भी काल का ही प्रभाव मानते हैं।

168. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर, पृष्ठ–9

इसप्रकार अनेक प्रकार की विविधतायें, विचित्रतायें, दोष अथवा अपवाद इस हुण्डावसर्पिणी काल में होते हैं।

**उत्सर्पिणी के छह काल –**

प्राणियों को प्राप्त अनुकूलताओं के ह्रासरूप अवसर्पिणी के छह काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् इससे विपरीत क्रम में उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ होता है। इसके छह काल अवसर्पिणी से विपरीत क्रम में हैं तथा परिस्थितियाँ भी उसी अनुसार होती हैं। अवसर्पिणी के प्रारंभिक तीन काल भोगभूमि के तथा अंतिम तीन काल कर्मभूमि के होते हैं। जब कि उत्सर्पिणी के प्रारंभिक तीन काल कर्मभूमि के तथा अंतिम तीन काल भोगभूमि के हैं। अवसर्पिणी काल के अंत में 49 दिन तक कुवृष्टियों के माध्यम से सृष्टि में प्रलय होती है तथा उत्सर्पिणी काल में प्रारंभिक 49 दिन तक सुवृष्टियों के माध्यम से पुनः सृष्टि रचना प्रारंभ होती है। यहाँ सात–सात दिन तक पुष्कर, क्षीर, अमृत, रस, औषधि, सुगंध जलादि की वर्षा होने से वज्राग्नि से जली हुई सम्पूर्ण पृथ्वी शीतल हो जाती है।[169]

शीतल गंध को ग्रहण कर गुफाओं में छिपे हुये मनुष्य और तिर्यंच बाहर निकलने लगते हैं।[170] अभी इस काल में यहाँ अग्नि नहीं है, अतः उनका खान–पान रहन–सहन, आचरण आदि सब पशुओं जैसा ही होता है। फिर धीरे–धीरे आयु, तेज, बुद्धि,

169. लोकविभाग, 5 / 167–169

170. (1) 'ततो सीयलगंधं, णादित्ता णिस्सरंति णर तिरिया' – तिलोयपण्णत्ती, 4 / 1583
(2) लोकविभाग, 5 / 171

बाहुबल, क्षमा, धैर्य आदि की वृद्धि होते हुये 21 हजार वर्ष का **दुषमादुषमा** काल और उसके बाद जब आगामी **दुषमा** काल के भी 20 हजार वर्ष व्यतीत होते हैं, तबतक मनुष्यों का आहारादि उसी प्रकार चलता रहता है।

## उत्सर्पिणी काल में कुलकर –

जब **दुषमा–सुषमा** काल प्रारंभ होने में 1000 वर्ष शेष रहते हैं, तब इन भरत/ऐरावत क्षेत्रों की पृथ्वी पर पुनः 14 कुलकर उत्पन्न होते हैं।[171] आचार्य नेमिचन्द्र[172] चौदह के स्थान पर सोलह कुलकरों का उल्लेख करते हैं, वहाँ पद्म तथा महापद्म ये दो नाम अधिक हैं। ये सभी कुलकर जगत के प्राणियों को अग्नि को उत्पन्न करना, भोजन पकाकर खाना, विवाह करना, बन्धु परिवार आदि के साथ शिष्टाचार पूर्वक रहना आदि बातों को शिक्षक की भाँति समझाते हैं।

उत्सर्पिणी काल में भी 24 तीर्थंकर होते हैं। अंतिम कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थंकर होते हैं।[173] तीर्थंकर हमेशा दुषमा–सुषमा काल में ही होते हैं, **यह अवसर्पिणी की अपेक्षा चौथा काल एवं उत्सर्पिणी की अपेक्षा तीसरा काल कहलाता है।**

उत्सर्पिणी में होने वाले 24 तीर्थंकरों के नाम एवं उनके किस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंधन हो चुका है अथवा किस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंधन होगा – इसका भी नामोल्लेख सहित

171. 'वास सहस्से सेसे उप्पत्ती कुलकराण भरहम्मि' – तिलोयपण्णत्ती, 4/1590
172. त्रिलोकसार, गाथा–871
173. 'पढम जिणो, अंतिल्ल कुलकर सुदो...' – तिलोयपण्णत्ती, 4/1599

विवेचन जैन आगमों में उपलब्ध है। आचार्य यतिवृषभ[174] एवं आचार्य नेमीचन्द्र[175] के अनुसार आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर **महापद्म** ने **राजा श्रेणिक** के भव में तथा 16 वें तीर्थंकर **निर्मल** ने **श्रीकृष्ण** के भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया।

इसप्रकार तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण एवं बलभद्रों के जन्म एवं कर्म सहित तृतीय काल पूर्ण होता है। **उत्सर्पिणी का चौथा काल प्रारंभ होते ही एक ही समय में विकलेन्द्रिय प्राणियों के समूह एवं कुलभेद नष्ट हो जाते हैं तथा प्रथम समय में कल्पवृक्षों की भी उत्पत्ति हो जाती है।**[176]

उत्सर्पिणी के चौथे काल में जघन्य भोगभूमि, पंचम काल में मध्यम भोगभूमि तथा छठे काल में उत्तम भोगभूमि के समान रचना होती है। इन भोगभूमियों का स्वरूप अवसर्पिणी के कालों के समान ही है, अन्तर मात्र इतना है कि यहाँ उत्तरोत्तर वृद्धि का काल है, वहाँ ह्रास का काल था। इस प्रकार उत्सर्पिणी के छह काल समाप्त होने पर पुनः अवसर्पिणी काल प्रारंभ होता है। इस प्रकार यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक यही क्रम चलता रहेगा।

## काल अपरिवर्तन वाले क्षेत्र –

इस लोक में बहुत–से क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ सदैव एक जैसा ही काल वर्तता है। षट् काल रूप परिवर्तन मात्र पाँच भरत एवं पाँच

174. 'तित्थयर णामकम्मं बंधंते ताण ते इमे णामा सेणिग....किण्हा....'– ति.प 4/1605–1606
175. 'सेणियचर पढमतित्थयरो....किण्हचरणिम्मलओ....'– त्रिलोकसार, गाथा–872 व 874
176. तिलोयपण्णत्ती, 4/1632

ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है, वह भी उनके आर्य खण्डों में ही होता है; म्लेच्छ खण्डों में नहीं होता। तिलोयपण्णत्ती[177] एवं त्रिलोकसार[178] में पाँच म्लेच्छ खण्डों और विद्याधर श्रेणियों में अवसर्पिणी के चौथे काल के प्रारंभ से अंत तक हानि तथा उत्सर्पिणी के तीसरे काल में प्रारंभ से अंत तक वृद्धि होना बताया है।

भरत एवं ऐरावत क्षेत्रों के अतिरिक्त सभी भूमियों में काल परिवर्तन का निषेध करते हुये उमास्वामी आचार्य लिखते हैं – **ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः**[179] अर्थात् अन्य सभी भूमियाँ षट् काल परिवर्तन से रहित है।

**देवकुरु**[180]–**उत्तरकुरु**[181] में सदैव सुषमा–सुषमा (उत्तम भोग भूमि) नामक प्रथम काल जैसी रचना वर्तती है। **विदेह क्षेत्र** में सदैव दुषमा–सुषमा नामक चौथे काल जैसी दशा रहती है। यहाँ कभी अतिवृष्टि–अनावृष्टि, अकाल आदि नहीं होता।[182] **हरि क्षेत्र**[183] एवं **रम्यक क्षेत्र** में सदैव सुषमा नामक दूसरे काल के समान मध्यम भोगभूमि की रचना रहती है, जो कि हानि–वृद्धि से सदा रहित है। तथा **हैमवत क्षेत्र**[184] एवं **हैरण्यवत क्षेत्र** में सदा काल सुषमा–दुषमा नामक तृतीय काल के समान जघन्य भोगभूमि

177. तिलोयपण्णत्ती, 4/1629
178. त्रिलोकसार गाथा–883
179. तत्त्वार्थसूत्र, 3/28
180. तिलोयपण्णत्ती, 4/2170
181. वही, 4/2219
182. वही, 4/2277
183. वही, 4/1767
184. वही, 4/1726

वर्तती है। उक्त पहले से चौथे काल के नियमों को आचार्य नेमीचन्द्र[185] ने एक ही गाथा में प्रस्तुत कर दिया है। लोकविभाग[186] में निषध, नील आदि पर्वतों पर भी काल अपरिवर्तन बताया है।

मध्यलोक में ढाई द्वीप व अंतिम आधे द्वीप व समुद्र को छोड़कर शेष असंख्यात द्वीप–समुद्रों में जघन्य भोगभूमि (सुषमा–दुषमा काल) वर्तती है। अंतिम आधा स्वयंभूरमण द्वीप एवं अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमि है, वहाँ पंचम (दुषमा) काल जैसी स्थिति है।[187]

चतुर्गति में काल परिवर्तन के संबंध में आचार्य नेमीचन्द्र लिखते हैं –

**'पढमो देवे चरिमो णिरए, तिरिए णरेवि छक्काला'**[188] अर्थात् **देवगति** में सदैव प्रथम (सुषमा–सुषमा) काल जैसा और **नरक** में सदैव छठा (दुषमा–दुषमा) काल जैसा वातावरण रहता है तथा **मनुष्य–तिर्यंचों** में छहों काल वर्तते हैं। जहाँ देव एवं नारकियों के प्रथम एवं छठे काल की बात कही, वहाँ परिस्थितियों की अपेक्षा ही बात समझना चाहिये; आयु की अपेक्षा नहीं।

## कुछ सहज जिज्ञासायें ?

विविध आगम प्रमाणों के आधार से काल के स्वरूप एवं उसके विविध प्रकार से भेद–प्रभेदों की चर्चा करने के उपरान्त भी

185. त्रिलोकसार गाथा–882
186. लोकविभाग, 5/35–38187. हरिवंश पुराण, 5/30–31
187. हरिवंश पुराण, 5/30–31
188. त्रिलोकसार, गाथा–884

इन विषयों को लेकर मन में कुछ जिज्ञासायें शेष रह जाती हैं, यहाँ उनका यथोचित समाधान करने का प्रयास किया जा रहा है।

### वर्तमान में कौनसा काल – उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी ?

जैन आगमों के अनुसार वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। यह काल ह्रास/गिरावट का काल होता है; परन्तु आज मानव जाति हर क्षेत्र में विकासोन्मुख ही नहीं, बल्कि विकासशील दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में आगमानुसार वर्तमान काल ह्रास का काल (अवसर्पिणी) है – यह बात स्वीकार करना अथवा गले उतारना सहज नहीं है। इसे आज के भौतिकवादी युग में सिद्ध करना भी एक चुनौतीभरा कार्य है।

अष्टापद रिसर्च इंटरनेशनल फाउण्डेशन द्वारा दिनांक 15–16 दिसम्बर, 2012 को अहमदाबाद में आयोजित सेमीनार में जब मैंने "अवसर्पिणी काल और वर्तमान दुनिया" विषय पर अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया तो वहाँ मौजूद नासा एवं इसरो से जुडे अनेक वैज्ञानिकों ने वर्तमान काल को अवसर्पिणी मानने में आपत्ति व्यक्त की। पत्र वाचन के उपरान्त अनेक सवाल–जवाब, तर्क–वितर्क हुये। **उनका कहना था** कि –

"वर्तमान में उत्सर्पिणी काल चल रहा है। वर्तमान काल ह्रास का नहीं; विकास का काल है। यह विज्ञान का युग है। नई–नई मशीनें, कैलकुलेटर, कम्प्यूटर, इंटरनेट इत्यादि की खोज मनुष्य की प्रगति की द्योतक हैं। आज के 100 वर्ष पहले लाइटें नहीं थी, आवागमन के साधन सुलभ नहीं थे। मोबाइल, टेलीविजन, ए.सी आदि सुख–सुविधायें नहीं थी। पहले के लोगों का रहन–सहन

और आज के लोगों की जीवन शैली में जमीन–आसमान का अंतर है, और यह अंतर विकास की ओर है; ह्रास की ओर नहीं।''

उक्त बातें बौद्धिक स्तर पर सही प्रतीत होने पर भी यदि श्रद्धा के स्तर पर बात की जाये तो आगम की सत्यार्थता पर शंका नहीं की जा सकती; वह हमारे लिये शिरोधार्य है; अतः जरूरत है, इस दिशा में गहन चिंतन–मनन की।

आज विज्ञान का विकास हुआ दिखता है; परन्तु इनके द्वारा मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का ह्रास ही हुआ है। आज कैलकुलेटर से हिसाब लगाना बहुत आसान हो गया है; पर हमारे दिमाग उतने ही कमजोर हो गये हैं। छोटे–छोटे हिसाब के लिये भी हम कैलकुलेटर तलाशते हैं। आज मनोरंजन के साधनों में टी.वी ने सर्वोच्च स्थान बना रखा है; पर क्या इससे हमारे सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का ह्रास नहीं हुआ है ?

वाशिंग मशीन, मिक्सी आदि अनेक आधुनिक उपकरणों द्वारा यद्यपि घर में कार्यों में सुविधा हो गई है; परन्तु इससे हाथों से काम करने की क्षमता ही कम हुई है। आज शारीरिक संहनन/बल बहुत क्षीण हो गया है, हड्डियाँ काँच के समान हो गई है।

मोबाइल, कम्प्यूटर एवं इंटरनेट यद्यपि आज के समय में बहुत उपयोगी हैं, इनसे कार्य आसान हो गये हैं; पर क्या इनके बिना हम अपने आप को अपाहिज महसूस नहीं करते ?

विज्ञान द्वारा जो विकास दिखाई देता है, कहीं यह विकास विनाश की दस्तक तो नहीं है ? मार्च 2011 में रेडियेशन की वजह से जापान में हुई तबाही किससे छिपी है।

वस्तुतः अवसर्पिणी काल के सन्दर्भ में ह्रास से तात्पर्य आयु, शरीर का उत्सेध (ऊँचाई), बाहुबल, धर्म, ज्ञान, गाम्भीर्य, धैर्य इत्यादि के ह्रास से है। मात्र भौतिक विकास उन्नति का सूचक नहीं है। वर्तमान में शारीरिक सामर्थ्य आदि की कमी के साथ–साथ नैतिक मूल्यों का भी ह्रास होता जा रहा है। समाज का नैतिक एवं चारित्रिक पतन भी वर्तमान में अवसर्पिणी काल को ही सिद्ध करता है।

**प्रथम आदि कालों में बताई गई मनुष्यों की ऊँचाई, आयु आदि पर विश्वास नहीं होता ? पल्यों और पूर्व में आयु का वर्णन और धनुषों में ऊँचाई की चर्चा काल्पनिक सी लगती है?**

जिनागम के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के शरीर की ऊँचाई 500 धनुष थी। एक धनुष चार हाथ का होता है और एक हाथ लगभग सवा फीट का। इस प्रकार उनकी ऊँचाई लगभग 2500 फीट की थी। दूसरे प्रकार से देखें तो शास्त्रों में 2000 धनुष का एक कोस बताया गया है। एक कोस में लगभग तीन किलोमीटर होते है, तदनुसार भी 500 धनुष का अर्थ लगभग पौन किलोमीटर होता है।

ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व की थी। एक पूर्व में 70 लाख 56 हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे एक पूर्व की नहीं 84 लाख पूर्व की उनकी आयु थी।

जब हम इसप्रकार की बातें पढ़ते–सुनते हैं, तो एकाएक विश्वास नहीं होता, पर यदि **कालचक्र** पर दृष्टि दी जाये तो इसमें काल्पनिक अथवा असम्भव लगने जैसी कोई बात नहीं है, क्योंकि वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है।

भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर स्वामी तक सभी तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई एवं आयु पर दृष्टि देवें तो बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की ऊँचाई 500 धनुष (2000 हाथ) और अंतिम तीर्थंकर महावीरस्वामी की ऊँचाई मात्र 7 हाथ अर्थात् लगभग पौने नौ फीट। इसी प्रकार ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व एवं महावीर स्वामी की मात्र 72 वर्ष। चक्रवर्ती आदि सभी महापुरुषों की आयु, ऊँचाई आदि में भी इसी प्रकार का ग्राफ बनता है।

यह सब एकदम नहीं हुआ इसमें लगभग एक कोड़ाकोडी सागर का काल व्यतीत हुआ है। वर्तमान में हो रही शोध–खोज के अनुसार करोड़ों वर्षों पहले के प्राप्त अवशेषों आदि के आधार पर भी उनकी ऊँचाई आदि की सिद्धि हो जाती है। डायनासोर की खोज इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उस काल में इतने विशालकाय जीव/प्राणी इस धरातल पर हुआ करते थे। ऐसे अनेक उदाहरणों से उक्त बातों को सिद्ध किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रथमानुयोग एवं करणानुयोग में उपलब्ध इन बातों पर विश्वास भी **कालचक्र** को सही रूप में समझने से ही होता है।

**हमने सुना था कि छठे के बाद पुनः छठा काल आता है। आपने कवर पर छठे के बाद पहला लिखा है। क्या सही है ?**

वस्तुतः अवसर्पिणी के छठे काल के बाद उत्सर्पिणी काल प्रारंभ होता है; अतः वह उत्सर्पिणी का पहला काल ही है। उस पहले काल की परिस्थितियाँ अवसर्पिणी के छठे काल के समान ही होती हैं। अवसर्पिणी का छठा और उत्सर्पिणी का पहला –

दोनों का नाम दुषमा–दुषमा है, दोनों ही 21,000 वर्ष के हैं, दोनों में उत्कृष्ट आयु, उत्कृष्ट ऊँचाई आदि समान ही हैं; अतः समानता समझाने के लिये उपचार से छठे के बाद छठा कहा जाता है। इतना अन्तर तो है ही कि अवसर्पिणी के 21,000 वर्ष तक निरन्तर ह्रास होकर अन्त में प्रलय होती है और उत्सर्पिणी के 21,000 वर्ष तक निरन्तर कुछ–कुछ उत्थान होता रहता है।

## क्या काल परिवर्तन होने से सब कुछ बदल जाता है ?

नहीं, कालचक्र के अनुसार परिवर्तनशील इस जगत में सब कुछ बदल जाता हो – ऐसी बात नहीं है। बहुत कुछ है जो काल से अप्रभावित रहता है।

जीव कभी अजीव नहीं हो जाता तथा अजीव भी कभी जीव नहीं होता। कोई भी वस्तु अपने मूल स्वरूप को कभी नहीं छोड़ती। वस्तु का स्वभाव अपरिवर्तनशील है। अग्नि की उष्णता, नमक का खारापन, मिश्री की मिठास के समान ही जानना–देखना आत्मा का स्वभाव है, जो कि काल से अप्रभावित रहता है।

स्वभाव के समान ही **स्वरूप** भी काल से अप्रभावित रहता है। जैसे – सच्चे देव, गुरु, धर्म का स्वरूप कभी नहीं बदलता। यद्यपि चौथे काल से पंचम काल में परिस्थितियाँ बहुत बदल जाती है, किन्तु सच्चे देव तो वीतरागी–सर्वज्ञ ही होते हैं।

चौथे काल में धर्म अलग प्रकार का होता होगा और पंचम काल में धर्म अलग प्रकार का ? चौथे काल में मुनि और श्रावक का स्वरूप अलग प्रकार का होगा, पंचम काल में अलग प्रकार का ? – ऐसा नहीं है। काल और क्षेत्र कोई भी हो स्वरूप कभी

नहीं बदलता। अग्नि हर काल में ऊष्ण ही होती है।

तत्त्व सात होते हैं और द्रव्य छह। कर्म आठ होते हैं और गुणस्थान चौदह। जीव असंख्यात प्रदेशी है और आकाश अनंत प्रदेशी। नरक, स्वर्ग, मध्यलोक – इसप्रकार अनगिनत बातें हैं, जो त्रिकाल एक समान हैं।

इसप्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल परिवर्तित होते हुये भी वस्तु का द्रव्य स्वभाव एवं सैद्धान्तिक स्वरूप कभी नहीं बदलता। सिद्धान्त त्रिकाल होते हैं, वे काल के अनुसार बदला नहीं करते। इसीलिये कालचक्र अनुसार परिवर्तनशील इस जगत में भी ज्ञानियों की दृष्टि अपरिवर्तनशील स्वभाव पर ही रहती है।

**कौनसा काल श्रेष्ठ ?**

काल के इतने भेद–प्रभेद बताये गये हैं, आखिर इनमें से कौनसा काल श्रेष्ठ है ? हमारे लिये कौनसा काल अच्छा है ? कौनसे काल में जीव सबसे अधिक सुखी होते हैं ?

छह काल दो भागों में विभक्त हैं। प्रारंभिक तीन काल भोग भूमि के और अंतिम तीन काल कर्म भूमि के हैं। इनमें या तो आप भोग भूमि को अच्छा कहेंगे या कर्म भूमि को। कुछ लोग चौथे काल को श्रेष्ठ कहते हैं तो कुछ उत्तम भोग भूमि रूप पहले काल को ? छह कालों में दुषमा (पंचम) और अतिदुषमा (छठे) काल को तो कौन श्रेष्ठ कह सकता है ? अर्थात् कोई नहीं कहता।

प्रथम काल को श्रेष्ठ कहने वालों का तर्क है कि वहाँ मन चाहे भोग मिलते हैं, कल्प वृक्षों से सभी प्रकार की सुख–सुविधाओं

की प्राप्ति हो जाती है। भोग सामग्री प्रचुर मात्रा में होती है। आयु बहुत लम्बी होती है तथा रोग और वृद्धावस्था भी नहीं है। तथा भोगभूमि से मरकर सभी जीव नियम से देव गति में ही जाते हैं; अतः यही श्रेष्ठ काल है।

उक्त सभी बातें **अविचारित रम्यं** जैसी है। जो ऊपर–ऊपर से देखने पर अच्छी लग रही है। यह काल भोगों में सुख मानने वालों को ही अच्छा लग सकता है; माना कि वहाँ सुविधायें बहुत हैं, आयु अधिक है; पर वह सब कुछ शाश्वत नहीं है, मरण तो होता ही है। दूसरी बात, अधिक भोग सामग्री होने पर भी वह इस जीव को सुखी करने में समर्थ नहीं है।

आचार्य नेमीचन्दस्वामी त्रिलोकसार में लिखते हैं कि – 'प्रचुर भोग सामग्री भी भोग भूमिया जीवों को तृप्ति देने में समर्थ नहीं है।' पंचेन्द्रिय के विषय भोग तो चाहे कर्म भूमि के हों या भोग भूमि के – मधुर विष के समान ही हैं। इन्हें भोगने पर शान्ति नहीं मिलती; ये तो आग में घी डालने जैसा ही कार्य करते हैं। अतः भोग भूमि के काल को श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

कर्म भूमि के दुषमा–सुषमा नामक **चौथे काल** को श्रेष्ठ कहने वालों का तर्क है कि इस काल में तीर्थंकर होते हैं। जीवों को शुक्ल ध्यान, श्रेणी चढ़ना एवं निर्वाण की प्राप्ति इसी काल में संभव है; अतः इसे ही श्रेष्ठ कहना चाहिये।

एक अपेक्षा से उक्त बात ठीक है। पर, क्या चतुर्थ काल में जन्मे सभी जीव निर्वाण की प्राप्ति करते हैं ? क्या चौथे काल में सभी धर्मात्मा ही होते हैं ? क्या पंचम काल में धर्म नहीं होता ?

भाई ! ऐसा नहीं है। चतुर्थ काल के भी सभी जीव धर्मात्मा नहीं होते तथा पंचम काल के सभी अधर्मात्मा नहीं होते।

दूसरी बात हमारा जन्म चतुर्थ काल में भी अनंत बार हो चुका है। काल परावर्तन की दृष्टि से देखें तो चतुर्थ काल का कोई भी समय ऐसा नहीं है, जब हमारा जन्म न हुआ हो। चतुर्थ काल में जन्म लेकर भी जब तक यह जीव अपने निज ज्ञायक आत्मा को न जाने तब तक सुखी नहीं हो सकता तथा पंचम काल में भी अपने स्वरूप को जानकर पहिचानकर आत्मानुभव रूप सच्चे सुख की प्राप्ति की जा सकती है। इस काल में भी धर्मध्यान का सद्भाव आगम में बताया गया है।

ऋषभदेव ने तृतीय काल में निर्वाण प्राप्त किया तो इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मस्वामी, जम्बूस्वामी, श्रीधर केवली आदि अनेक जीवों को पंचम काल में भी निर्वाण प्राप्त हो गया, यह बात अलग है कि इन्द्रभूति आदि का जन्म चतुर्थ काल में हुआ था।

वस्तुतः कोई भी बाहरी काल इस जीव को सुखी–दुखी करने में समर्थ नहीं है। जिस काल में यह जीव अपने स्वभाव के सन्मुख हो वही काल श्रेष्ठ है। बाहरी काल से सुख–दुःख मानना मिथ्यात्व है, काल परावर्तन का कारण है।

सच्चा सुख तो अपने में ही है; अतः बाहरी काल से दृष्टि हटाकर अपने में दृष्टि केन्द्रित करने का प्रयास करें, इसी में सार है, यही सुखी होने का उपाय है, यही मुक्ति का मार्ग है। हम सभी निज ज्ञायक की शरण लेकर परम सुख की प्राप्ति करें – इसी भावना से विराम लेता हूँ। ●

## संदर्भ ग्रन्थ सूची


आदिपुराण : आचार्य जिनसेन
सम्पादक – डॉ0 पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
भाग–1, दसवाँ संस्करण 2004, भाग–2, नौवाँ संस्करण 2003

कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामी कार्तिकेय
सम्पादक – पं. महेन्द्रकुमार पाटनी, काव्यतीर्थ
श्री दिगम्बर जैन शिक्षण समिती, इंदौर एवं
पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, चतुर्थ सं. 1996

गोम्मटसार जीवकाण्ड : श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, छठा सं. 1985

जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र : स्थविरप्रणीत षष्ठ उपांग
सम्पादक – डॉ0 छगनलाल शास्त्री, पं. शोभाचंद्र भारिल्ल

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
सम्पादक– प्रो0 ए. एन. उपाध्ये, डॉ0 हीरालाल जैन
प्रकाशक– भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
भाग–1, आठवाँ संस्करण–2003

बृहद् द्रव्यसंग्रह : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव
संस्कृत वृत्ति– श्री ब्रह्मदेव सूरि
श्री दि. जैन शिक्षण संयोजन समिति, इन्दौर, द्वितीय सं. 1995

भारतीय सृष्टिविद्या : डॉ0 प्रकाश
सम्पादक– लक्ष्मीचंद्र जैन जगदीश
प्रकाशक– भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, वीर नि. सं. 2500

भक्तामर स्तोत्र : आचार्य मानतुंग
प्रकाशक/मुद्रक – वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर

महापुराण : महाकवि पुष्पदंत
सम्पादक – डॉ0 पी. एल. वैद्य
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली
भाग–1, द्वितीय सं. 2001

तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) : भट्ट अकलंकदेव
सम्पादक – प्रो0 महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
भाग–1 पंचम संस्करण–1999, आठवाँ संस्करण–2008
भाग–2 पंचम संस्करण–1999, आठवाँ संस्करण–2009

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार (सप्त खण्ड) : श्री विद्यानंदस्वामी
सम्पादक – पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला, सोलापुर,
प्रथम खंड, सन् 1949, द्वितीय खंड, सन् 1951, तृतीय खंड, सन् 1953, चतुर्थ खंड, सन् 1956, पंचम खंड, सन् 1964, षष्ठ खंड, सन् 1969, सप्तम खंड, सन् 1984

तत्त्वार्थसूत्र : आचार्य उमास्वामी
वीर पुस्तक भण्डार, जयपुर, 2005

तिलोयपण्णत्ती : आचार्य यतिवृषभ
टीकाकर्त्री – आर्यिका विशुद्धमती
सम्पादक – डॉ0 चेतनप्रकाश पाटनी

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा,
भाग–1, प्रथम सं. 1984 (तिजारा, अलवर, तृतीय सं.1997)
भाग–2, प्रथम सं. 1986, भाग–3, प्रथम सं. 1988

तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) : आचार्य यतिवृषभ
सम्पादक – प्रो0 आदिनाथ उपाध्याय एवं प्रो0 हीरालाल जैन
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर,
भाग–1, 1956, भाग–2, 1951

त्रिलोकसार : श्रीमन्नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
टीकाकर्त्री – आर्यिका विशुद्धमति
सम्पादक – पं.रतनचंद जैन मुख्तार, डॉ0 चेतनप्रकाश पाटनी
श्री शान्तिवीर दि.जैन संस्थान, महावीरजी, वीर नि. सं. 2501

नियमसार : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका– श्री पद्मप्रभमलधारी देव
श्री कुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, सप्तम सं.1993

पद्म पुराण भाग–3 : आचार्य रविषेण
भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पाचवाँ सं. 1997

पंचारित्तकाय संग्रह : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका– आचार्य अमृतचंद्र
पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, छठा सं. 1998

पंचास्तिकाय (तात्पर्यवृत्ति) : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका– आचार्य जयसेन
सम्पादक – ब्र. कल्पना जैन, सागर
तीर्थधाम मंगलायतन, अलीगढ, प्रथम सं. 2010

प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द
संस्कृत टीका (तत्त्वप्रदीपिका)– आचार्य अमृतचंद्र
सम्पादक– डॉ0 हुकमचंद भारिल्ल
श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, 1985

लोक विभाग : श्री सिंहसूरर्षि
सम्पादक – प्रो0 ए.एन.उपाध्ये, डॉ0 हीरालाल जैन
प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 1962

षट्दर्शनसमुच्चय : हरिभद्रसूरि
सम्पादक – डॉ0 महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पंचम सं. 2000

समाधितंत्र : आचार्य पूज्यपाद
संस्कृत टीका – आचार्य प्रभाचन्द्र
प्रकाशक – श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, श्री आदिनाथ–
कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ

सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद
सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, छठा सं. 1995

हरिवंशपुराण : आचार्य जिनसेन
सम्पादक – पं. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य
प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1962

शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर : डॉ0 हुकमचंद भारिल्ल
प्रकाशक– पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, सप्तम सं.2012

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

चारित्तं खलु धम्मो

प्रकाशक :

**श्री अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट**

129, जादौननगर बी, स्टेशन रोड़, दुर्गापुरा, जयपुर

फोन : 0141-2722274 • मो. 9462022274

Email : ptstjaipur@yahoo.com